मुद्रक- शान्तिलाल जैन स्वतन्त्र नव भारत प्रेस कदमकुआ पटना। इ

पुस्तक की उपयोगिता के विषय में मुझे कुछ कहना नहीं, वह तो मैंने विद्वान् शिक्षकगण और मननशील विद्यार्थियों के लिये छोड रखा है। हाँ, पुस्तक के उद्देश्य और उसकी रचना के संबन्ध में दो शब्द कह देना उचित समझता हूँ।

हिन्दी-भाषा शिक्षा का माध्यम बनी और शिक्षकों का उत्तरदायित्व इसके साथ काफी बढ गया। इस बात की आवश्यकता पड़ी कि प्रत्येक विषय पर अंग्रेजी की चुनी पुस्तकों का अनुवाद किया जाये या उन पर उच्चकोटि की मौलिक रचनाओं का सृजन हो। यद्यपि इस दिशा में बहुत प्रगति भी हुई है, फिर भी प्रगति के लिये काफी गुन्जाइश है। लगभग तीन चार वर्ष हुए कि बी० ए० के पाठ्यक्रम में हिन्दू-आचार-शास्त्र (Hindu Ethics) को स्थान दिया गया। यह एक दूसरी कठिनाई दर्शन के शिक्षकों और विद्यार्थियों के सामने आई। हिन्दू-आचार पर साहित्य का अभाव नहीं, पर वे या तो संस्कृत में है या आंग्लभाषा में। जरूरत थी कि राष्ट्रभाषा में इस विषय की कोई सुगम पुस्तक लिखी जाय। किन्तु साथ ही यह भी आवश्यक था कि पुस्तक में सुगमता के साथ-साथ पाठक हिन्दू-धर्म के आचार-सम्बन्धी मूल साहित्य से भी थोडा-बहुत परिचय प्राप्त कर लें, इसलिये कि हिन्दू आचार के मौलिक साहित्य की ओर उनकी अभिरुचि बढे। इस दृष्टिकोण से ही प्रस्तुत पुस्तक में मनुस्मृति, गीता, महाभारत आदि से उद्धरण लिये गये है। फिर भी संस्कृत से अनभिज्ञ पाठकों की कठिनाई को ध्यान में रखा गया है और इसलिये उन श्लोकों की व्याख्या कर दी गई है।

जहाँ तक संभव हो सका है, इस पुस्तक में विषयों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त लगभग सभी विषयों पर अन्य धर्मों के विचार भी उपस्थित किये गये है जिससे पाठकों का आचार-

।.न सम्बन्धी दृष्टिकोण संकीर्ण न होकर विस्तृत एवं सम्यक् हो सके। आशा है यह पुस्तक बी० ए० पास तथा ऑनर्स, के विद्यार्थियों के लिए उपादेय सिद्ध होगी।

इस पुस्तक को आपके समक्ष उपस्थित करने में मुझे अपने अनुज श्री देवेन्द्रनाथ सहाय से बहुत सहायता मिली है। अतः इस बात का उल्लेख कर देना और उन्हें धन्यवाद देना मेरा कर्त्तव्य है।

पुनश्च मैं अपने मित्र प्रो० प्रसूनदन्त जैन (हिन्दी-विभाग) को भी हार्दिक धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने इस पुस्तक की पाण्डु-लिपि को देखने में अपना बहुमूल्य समय दिया। इसके अतिरिक्त मेरे मित्र प्रो० बखौरी चित्तरञ्जन सहाय (अंगरेजी विभाग) भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इस पुस्तक के प्रूफ को देखने का कष्ट उठाया।

राजेन्द्र कॉलेज,
छपरा, ता० २५-५-५३

देवनाथ सहाय

समर्पण

अपने गुरु

डा० डी० एम० दत्त

के

चरण कमलों में

देवनाथ

प्राक्कथन

पुस्तक की उपयोगिता के विषय में मुझे कुछ कहना नहीं, वह तो मैंने विद्वान शिक्षकगण और मननशील विद्यार्थियों के लिये छोड रखा है। हाँ, पुस्तक के उद्देश्य और उसकी रचना के सम्बन्ध में दो शब्द कह देना श्रेयस्कर समझता हूँ।

हिन्दी-साहित्य शिक्षा का माध्यम बना और शिक्षकों का उत्तरदायित्व इसके साथ काफी बढ़ गया। इस बात की आवश्यकता पड़ी कि प्रत्येक विषय पर अंग्रेजी की चुनी पुस्तकों का अनुवाद किया जाये या उन पर उच्चकोटि की मौलिक रचनाओं का सृजन हो। यद्यपि इस दिशा में बहुत प्रगति भी हुई है। फिर भी प्रगति के लिये काफी गुंजाइश है। लगभग तीन चार वर्ष हुए कि बी० ए० के पाठ्यक्रम में हिन्दू-आचार-शास्त्र (Hindu Ethics) को स्थान दिया गया। यह एक दूसरी कठिनाई दर्शन के शिक्षकों और विद्यार्थियों के सामने आई। हिन्दू-आचार पर साहित्य का अभाव नहीं, पर वे या तो संस्कृत में हैं या आंग्लभाषा में। जरूरत थी कि राष्ट्रभाषा में इस विषय की कोई सुगम पुस्तक लिखी जाय। किन्तु साथ ही यह भी आवश्यकता थी कि पुस्तक में सुगमता के साथ साथ पाठक हिन्दू-धर्म के आचार-संबन्धी मूल साहित्य से भी थोडा-बहुत परिचय प्राप्त कर लें, इसलिये कि हिन्दू आचार के मौलिक साहित्य की ओर उनकी अभिरुचि बढ़े। इस दृष्टिकोण से ही प्रस्तुत पुस्तक में मनुस्मृति, गीता, महाभारत आदि से उदाहरण लिये गये हैं। फिर भी संस्कृत से अनभिज्ञ पाठकों की कठिनाई को ध्यान में रखा गया है और इस लिये उन श्लोकों की व्याख्या कर दी गई है।

जहाँ तक संभव हो सका है, इस पुस्तक में विषयों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त लगभग सभी विषयों पर अन्य धर्मों के विचार भी उपस्थित किये गये हैं जिससे पाठकों का आचार-शास्त्र सम्बन्धी दृष्टिकोण संकीर्ण न होकर विस्तृत एवं सम्यक् हो सके।

इस पुस्तक को आपके समक्ष उपस्थित करने में मुझे अपने अनुज श्री देवेन्द्रनाथ सहाय से बहुत सहायता मिली है। अतः इस बात का उल्लेख कर देना और उन्हें धन्यवाद देना मेरा कर्त्तव्य है।।

राजेन्द्र कॉलेज
छपरा, ता० १९-४-५२

देवनाथ सहाय

विषय-प्रवेश

साधारणतः लोग 'भारतीय आचार-दर्शन' को 'हिन्दू आचार-दर्शन' का पर्याय मानते हैं। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि 'हिन्दू' शब्द का व्यवहार केवल सनातन-धर्मावलम्बियों के लिये नहीं किया गया है, वल्कि यह उन सभी लोगों को सम्बोधित करता है जो हिन्दी या भारतीय है। अर्थात् वे सभी हिन्दू हैं जो हिन्द में रहते हैं चाहे वे किसी धर्म और सम्प्रदाय के सदस्य क्यों न हों। अतः इस पुस्तक में प्राचीन, आधुनिक, हिन्दू, अहिन्दू, आस्तिक तथा नास्तिक, जितने भी प्रकार के भारतीय हैं उन सबों के आचार-संबन्धी दार्शनिक विचारों का उल्लेख तथा व्याख्या की गई है। जहाँ चार्वाक् जैसे कट्टर नास्तिक के विचारों का उल्लेख है, वहाँ शंकर जैसे आस्तिक के भी विचार उपस्थित किये गये हैं।

भारतीय आचार-दर्शन की कुछ विशेषतायें

भारतीय जीवन को तीन दृष्टिकोण से देखते हैं सामाजिक, आभ्यन्तरिक तथा आध्यात्मिक। अतः भारतीय आचार-दर्शन के तीन पहलू हैं सामाजिक, आभ्यन्तरिक तथा आध्यात्मिक।

भारतीय आचार-दर्शन की सामाजिकता हमें वर्णाश्रमधर्म में देखने को मिलती है। वर्णाश्रमधर्म सापेक्ष है क्योंकि यह व्यक्ति के सामाजिक स्तर (Social Status), उसकी जीवनावस्था, शक्ति तथा योग्यता से निश्चित एवं निर्धारित होता है। हम अपने जीवन में बहुत से ऐसे कर्त्तव्य पाते हैं जिनका पालन सामाजिक संबन्धों और स्तर के फलस्वरूप हमारे लिये अनिवार्य हो जाता है। पिता का पुत्र के प्रति, पुत्र का पिता के प्रति, पति का पत्नी के प्रति, पत्नी का पति के प्रति, शिक्षक का शिष्य के प्रति तथा शिष्य का शिक्षक के प्रति कर्त्तव्य सापेक्ष धर्म के कुछ उदाहरण हैं। परन्तु साधारण धर्म इससे भिन्न है। यह सभी व्यक्तियों के लिये सामान्यरूप से अनिवार्य है, अतः इसका पालन करना

प्रत्येक मनुष्य का उत्तरदायित्व हो जाता है, चाहे वह किसी वर्ण या आश्रम का क्यों न हो। इन बातों से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू आचार-दर्शन में सामाजिकता के साथ-साथ वैयक्तिक योग्यता को भी महत्त्व दिया गया है। इस व्यापक दृष्टिकोण का अभाव प्लेटो की नीति में है क्योंकि उसमें आचार के केवल सामाजिक पहलू पर ही प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त आश्रम एवं वर्ण के आधार पर धर्म और कर्त्तव्य का वर्गीकरण मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। परन्तु वर्णाश्रमधर्म की सापेक्षता से यह न समझना चाहिये कि वह व्यक्तिगत-इच्छा और निर्वाचन पर निर्भर करता है। वास्तव में ये सापेक्ष धर्म भी अपने-अपने क्षेत्र में अनिवार्य हैं। एक ब्राह्मण के लिये ब्राह्मणधर्म का पालन करना उतना ही आवश्यक है जितना एक गृहस्थ के लिये गार्हस्थ्य का। पर यह समझ लेना आवश्यक है कि नैतिक जीवन में केवल सापेक्षधर्म ही महत्त्व नहीं रखते बल्कि कुछ ऐसे धर्म भी हैं जो सभी व्यक्ति के लिये सामान्य हैं। धर्मों का जो वर्गीकरण किया गया है, उसके मूल में दो प्रकार की भावनायें काम करती हैं पहली भावना व्यक्ति के अपने समाज के प्रति उत्तरदायित्व से संबन्धित है; इस भावना से प्रेरित होकर ही मनुष्य सामाजिक उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य को करता है। परन्तु मनुष्य का कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व उसके समाज तक ही सीमित नहीं होता। उसका कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व मानव-समाज के प्रति भी होता है, जिसके अनुभव और संस्कृति से वह अपने जीवन में प्रतिक्षण लाभ उठाता है। अतः दूसरी भावना जो उपयुक्त वर्गीकरण के मूल में काम करती है, वह है मानवता के विकास और कल्याण की भावना। मानवता के विकास और कल्याण से संबन्धित धर्म (अर्थात् साधारण धर्म) हमारे दृष्टिकोण को संकीर्ण और संकुचित होने से रोकता है। इसके परिणामस्वरूप ही हम केवल अपने समाज के प्रति समुत्पन्न कर्त्तव्य का पालन नहीं करते बल्कि उन धर्मों का भी पालन करते हैं जो मानवमात्र से संबन्धित हैं। उपर्युक्त बातों से प्रत्यक्ष है कि वर्णाश्रमधर्म की आधार-शिला साधारण-धर्म ही है क्योंकि वह उसीकी परिधि के अन्तर्गत उसकी सार्थकता है। उदाहरणस्वरूप एक ब्राह्मण धार्मिक-यज्ञ करते समय भी दूसरे की वस्तु नहीं ले सकता क्योंकि ऐसा करना साधारण

धर्म-अस्तेय के विरुद्ध है। इस तरह व्यक्ति अपने समाज की सेवा करते हुए, अप्रत्यक्ष रूप से समस्त मानवता की सेवा कर सकता है। ऐसा सोचना भूल है कि वर्णाश्रमधर्म और साधारणधर्म में किसी प्रकार का विरोधाभास है। ये दोनों नैतिकता के बाह्यरूप पर विशेषरूप से जोर देते हैं अर्थात् किसी आचरण की नैतिकता इस बात पर निर्भर करती है कि वह उन धर्मों के अनुरूप और अनुकूल है, अथवा नहीं। किन्तु नैतिकता के लिये केवल अनुकूलता पर्याप्त नहीं है, चित्त की शुद्धि भी आवश्यक ही नहीं, बल्कि भारतीय नीतिशास्त्रों के विचार में अनिवार्य भी है। अतः नैतिक विकास के लिये व्यक्ति को धर्मों के समरूप कार्य करने के साथ-साथ चित्त-शुद्धि एवं आभ्यन्तरिक ऐश्वर्य के हेतु प्रयास करना चाहिये। क्योंकि शुद्ध और पवित्र चित्त रहने पर ही व्यक्ति विभिन्न आवेगों का उचित मूल्यांकन कर सकता है, जिसके फलस्वरूप ही सम्यक्-आचरण का होना संभव है। अतः नीतिशास्त्र के मनोवैज्ञानिक पक्ष का भी अध्ययन जरूरी है। यहाँ हम हिन्दू और पाश्चात्य दृष्टिकोण में कुछ अन्तर पाते हैं। जहाँ पाश्चात्य आचरण-दर्शन में मनोवैज्ञानिक विषयों की केवल व्याख्या और वर्गीकरण पाते हैं वहाँ हमें 'हिन्दू आचार-दर्शन' में इन बातों के साथ-साथ चित्त-शुद्धि के साधनों पर पर्याप्त विचार भी मिलते हैं। इसका एकमात्र कारण यह है कि भारत में नीति को, मानव-जीवन के निःश्रेयस्-आत्म प्रतीति (Self-realisation) का साधन समझा गया है और इस निःश्रेयस् की प्राप्ति उस समय तक संभव नहीं है जब तक मनुष्य अपनी स्वार्थपर भावनाओं का परित्याग कर, शुद्ध-चित्त हो संयमित एवं नैतिक जीवन व्यतीत न करे।

।*।

दैव और पुरुषकार

नीतिशास्त्र मानव-आचरण का अध्ययन करता है। वह अपने कुछ निश्चित मापदण्ड के सहारे यह निर्णय करता है कि कौन सा कार्य उचित है, कौन सा अनुचित, कौन सा भला है और कौन सा बुरा। किन्तु इस प्रकार का नैतिक निर्णय तभी सम्भव है जब हम यह स्वीकार कर लें कि मनुष्य अपने कार्य के लिये स्वयं ही उत्तरदायी है, किसी अदृष्ट सत्ता के हाथ का कठपुतला नहीं। किन्तु इस संबंध में दो परस्पर विरोधी विचार हैं। एक ओर तो भाग्यवादियों का यह कथन है कि जैसा भाग्य में लिखा है वैसा ही होगा। भाग्य के लिखे हुए को कोई भी नहीं मिटा सकता।[1] दूसरी ओर हम यह सुनते हैं कि पुरुषकार या प्रयत्न से सब कुछ संभव है। अतः यह स्पष्ट है कि भारतीय आचार-शास्त्र में दैव और पुरुषकार के प्रश्न को लेकर बड़ा विवाद है। वस्तुतः यह समस्या बड़ी जटिल भी है। फिर भी हम इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। क्योंकि यह समस्त आचार शास्त्र की नींव है। यदि यह मान लिया जाय कि मनुष्य कार्य करने में स्वतन्त्र नहीं है, तब तो नीतिशास्त्र के सारे उपदेश ही व्यर्थ हो जायेंगे। योगवासिष्ठ में लिखा है

> किंवा शास्त्रोपदेशेन मूकोऽयं पुरुषः किल।
> संचार्यते तु दैवेन किं कस्येहोपदिश्यते ॥[2]

१. cp. Omar Khayyam
"The Moving Finger writes, and, having writ,
Moves on; nor all thy Piety or wit
Shall lure it back to cancel half a Line,
Nor all thy tears wash out a word of it."

२. cp. D Arcy "If the freedom of the will in every sense is given and Necessity prove victorious the ethical ought is left without meaning and morality becomes a polite fiction."
[A short study of Ethics p 22]
Also compare Martineau "Either free will is a fact or moral judgment is a delusion"
[Types of Ethical Theory vol. II P. 41]

अभिप्राय यह है कि जब मानव मौन है और कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं तब शास्त्र के उपदेश से ही क्या? जब सब दैव के ही हाथ में है तब कौन किसे उपदेश दे सकता है?

इस प्रकार हम देखते हैं कि दैव और पुरुषकार जैसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न का सम्यक् निरूपण नितान्त आवश्यक है।

दैव के माननेवालों का कथन है कि अदृष्ट शक्तियाँ मनुष्य से जैसे चाहें वैसे काम करा ले। वह तो केवल कारणमात्र हैं, वास्तविक कर्त्ता तो कोई और ही है। अतः मनुष्य के प्रयत्नों का कोई मूल्य नहीं। क्योंकि उसे अपने संकल्प और प्रयास में स्वतन्त्रता नहीं है। कहा भी है "भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषं।" तुलसीदास के शब्दों में भी

होइहै सोइ जो राम रचि राखा।
को करि तर्क बढ़ावहि शाखा ॥[1]

इसके विपरीत पुरुषकारवादियों का कथन है कि

उद्यमेन विना क्वापि न सिद्ध्यन्ति मनोरथाः।
कातरा इति जल्पन्ति यद् भाव्यं तद् भविष्यति ॥

अर्थात् पुरुषकार या उद्यम के विना कोई भी मनोरथ सफल नहीं होता। जो कायर हैं वे ही कहते हैं कि भाग्य में जैसा लिखा है वैसा ही होगा।

सच्ची बात तो यह है कि मनुष्य में कार्य करने की स्वतन्त्रता है।[2] इस विषय में वह किसी बाहरी सत्ता के नियन्त्रण में नहीं। वह स्वयं ही अपने

१. Compare Shakespeare,
"There is a divinity that shapes our end,
Rough hew them as we will."
—Hamlet

२. cp. Milton, "...... ....but to persevere
He left it in thy power, ordained thy will
By nature free, not over-ruled by fate
Inextricable or strict necessity."

भाग्य का निर्माता है।[1] मनुष्य की इसी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति को पौरुष कहते हैं। इच्छा-शक्ति से किये हुए हमारे कर्म दो प्रकार के होते हैं। (क) प्राक्तन और (ख) अद्यतन। प्राक्तन का अभिप्राय उन कर्मों से है जिन्हें हमने अपने पूर्व जन्म में किया है और अद्यतन वे कर्म हैं जिन्हें हम इस जीवन में कर रहे हैं।

भाग्यवादियों का कथन है कि पूर्व जन्म में किये कर्म मनुष्य के वर्तमान जीवन की गतिविधि पर पूर्ण नियन्त्रण रखते हैं और इस कारण वह कार्य करने में स्वतन्त्र नहीं रहता। जब सब कुछ पूर्व जन्म के किये कर्मानुसार ही नियत होता है तब मनुष्य में स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की शक्ति रही कहाँ? इस प्रकार का तर्क देकर भाग्यवादी पुरुषकार को हीन बतलाना चाहते हैं।

पर यदि हम थोड़ी सूक्ष्मता से विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि भाग्यवादियों के इस तर्क से पुरुषकार की हीनता सिद्ध नहीं होती। वस्तुतः वह तो पुरुषकार की महत्ता की ओर संकेत करता है। पूर्व जन्म में किये कर्म भी तो हमारी इच्छा-शक्ति की देन हैं। इस प्राक्तन कर्म को हम दैव की संज्ञा दे सकते हैं किन्तु उससे पुरुषकार की हीनता सिद्ध नहीं होती, जैसा कि निम्नलिखित श्लोक में कहा गया है।

पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते।
तस्मात् पुरुषकारेण यत्नं कुर्य्यादतन्द्रितः॥

अर्थात् पूर्वजन्म में किये कर्म को ही दैव कहते हैं। अतः आलस्य त्याग कर पुरुषकार से यत्न करना चाहिये।

यह सच है कि पूर्व जन्म में किये कर्मों के संस्कार इस जीवन के कर्मों पर प्रभाव डालते हैं पर उससे मनुष्य की स्वतन्त्रता समूल नष्ट नहीं होती। योग वाशिष्ठ में तो यहाँ तक लिखा है कि सबल पुरुषकार या यत्नद्वारा पूर्व जन्म के बुरे संस्कार हटाये जा सकते हैं

द्वौ हुडाविव युध्येते पुरुषार्थौ समासमौ।
प्राक्तनश्चैहिकश्चैव शाम्यत्यत्राऽल्पवीर्यवान्॥

1. Compare Savage, "We ne'er can be, but by ourselves, undone."

दोषः शम्यत्यसंदेह आकृतोद्यतनैर्गुणैः ।
दृष्टांतोऽत्र ह्यस्तनस्य दोषस्याद्यगुणैः क्षयः ॥

कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्व जन्म में किये कर्म और इस जन्म के पुरुषकार दोनों भेढ़ों की तरह परस्पर लड़ते हैं और इनमें जो बलवान होता है उसीकी जीत होती है ।

गीता में दैव और पुरुषकार दोनों का महत्व बतलाया गया है । भगवान श्रीकृष्ण कहते है

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥
[गीता अ० १८ श्लो० १४]

अर्थात् किसी कार्य की सिद्धि के लिये पाँच हेतु आवश्यक हैं

(क) आधार
(ख) कर्ता
(ग) करण
(घ) चेष्टायें
और (ङ) दैव

ऊपर के श्लोक से स्पष्ट है कि दैव ही सब कुछ नहीं । कर्ता में भी कार्य करने की शक्ति है । सच तो यह है कि यदि कर्ता निरूद्यम होकर बैठ जाय तो दैव भी सहायक नहीं होता ।

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा ।
[ऋ० ४।३३।११]

अर्थात् परिश्रम या पुरुषकार के विना दैव भी सहायक नहीं होता । और यदि पुरुषकार या प्रयत्न सबल है तब तो दैव को भी बहुत हद तक झुकना पड़ता है, जैसा कि हमने योगवाशिष्ठ के विचार का अध्ययन करते समय देखा है । मनुष्य के कार्य करने की स्वतंत्र शक्ति तो इससे भी सिद्ध होती है कि गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन को बार बार कर्त्तव्याकर्त्तव्य की शिक्षा दी है । यदि अर्जुन काम करने में स्वतंत्र नहीं होते तो कृष्ण फिर

उन्हें शिक्षा देते ही क्यों। यद्यपि गीता में दैव को भी कुछ महत्त्व अवश्य दिया गया है, फिर यह नहीं कहा गया है कि वही सब कुछ है। इसके विरुद्ध गीता में यह स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि मनुष्य स्वयं ही अपना उद्धार करनेवाला है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैवह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

[अ० ६ श्लो० ५]

अर्थात् मनुष्य को चाहिये कि अपने द्वारा ही अपना उद्धार करे और अपनी आत्मा को अधोगति में न पहुँचावे, क्योंकि, यह जीवात्मा आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु।

ऊपर के श्लोक से पुरुषकार का महत्त्व स्पष्ट है। डा० राधाकृष्णन ने हिन्दू जीवन दर्शन में दैव और पुरुषकार के वास्तविक रूप को बतलाते हुए लिखा है "जिन्दगी के खेल के पत्ते हमें दिये जाते है, हम उन्हें चुनते नहीं। वे हमारे अतीत कर्म के फलस्वरूप हमें मिलते है। किन्तु हम क्या बोले, हमारी चाल क्या हो, यह हमारी इच्छा पर है। हमारी जीत और हार हमारे खेल पर ही निर्भर करती है और यही स्वतंत्रता है"।[1]

प्रवृत्ति

मनुष्य के कार्य दो प्रकार के होते हैं, ऐच्छिक और अनैच्छिक। अनैच्छिक क्रिया वह है जो स्वतः संचालित होती है तथा जिसके लिये हमें कोई चेतन प्रयास नहीं करना पड़ता। वस्तुतः ऐसी क्रियाओं में इच्छा का सर्वथा अभाव रहता है। अनैच्छिक क्रियाएँ मुख्यतः निम्नलिखित प्रकार की होती हैं

1. "The cards in the game of life are given to us. We do not select them. They are traced to our past Karma, but we can call as we please, lead what suit we will, and as we play we gain or lose And there is freedom."
[Dr. Radhakrishnan : The Hindu view of Life. P. 75]

(क) अचेतन वस्तुओं की क्रिया।

(ख) बालकों की अनुकरणात्मक क्रिया।

(ग) अनियमित क्रिया ऐसी क्रिया जीवन शक्ति के स्वाभाविक निष्क्रमण से उत्पन्न होती है। बच्चों का हाथ पाँव फैलाना और आँखों को खोलना तथा बंद करना इसी प्रकार की क्रियाएँ हैं।

(घ) सहज क्रिया किसी बाह्य उत्तेजना के कारण तत्काल उत्पन्न हुई क्रिया ही सहज क्रिया कहलाती है। उदाहरण, बाहर से नाक में किसी चीज के प्रवेश करने से छींक आ जाती है। यह क्रिया सहजक्रिया हुई।

(ङ) मूल प्रवृत्त्यात्मक क्रिया काम, क्षुधा आदि मनुष्य की कुछ मूल प्रवृत्तियाँ हैं। इनसे उत्पन्न क्रिया ही मूल प्रवृत्त्यात्मक क्रिया कहलाती है।

ऊपर हम अनैच्छिक क्रिया के कुछ मुख्य रूप को देख चुके हैं। यह भी हम जानते है कि इन क्रियाओं में चेतन प्रयास या इच्छा का बिलकुल अभाव रहता है और यही कारण है कि इन क्रियाओं पर पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म का निर्णय नहीं दिया जाता है।

किन्तु हमारी सभी क्रियाएँ अनैच्छिक ही नहीं होतीं। कुछ को तो हम चेतन प्रयास या संकल्प से करते है। वस्तुतः इनके मूल में हमारी इच्छा या प्रवृत्ति छिपी रहती है। और यही कारण है कि हिन्दू-आचार शास्त्र में इन क्रियाओं को प्रवृत्ति कहा गया है। भारतीय दार्शनिकों के अनुसार प्रवृत्ति में निम्नलिखित तत्व हैं

(क) कार्यता-ज्ञान यह प्रवृत्ति की प्रथम अवस्था है। किसी कार्य को करते समय हमें उसकी चेतना रहती है और उसी चेतना को कार्यताज्ञान कहते हैं।

(ख) चिकीर्षा यह कार्यताज्ञान के बाद की स्थिति है। इस अवस्था में उस कार्यविशेष को करने के लिये हममें तीक्ष्ण इच्छा उत्पन्न होती है जिसे चिकीर्षा कहते हैं। चिकीर्षा के मूल में राग और द्वेष है। हम पीछे इसकी विवेचना करेंगे।

(ग) कृति-साधनता-ज्ञान- वस्तुतः प्रवृत्ति और ऐच्छिक क्रिया तब तक संभव नहीं जब तक कर्त्ता यह न समझ ले कि उसमें उस कार्यविशेष को करने की क्षमता या शक्ति है। सच तो यह है कि मनुष्य वैसी क्रियाओं का संकल्प ही नहीं करता जिसे वह अपनी शक्ति से परे समझता है। अतः कार्य को सम्पन्न करने की शक्ति का ज्ञान भी प्रवृत्ति का आवश्यक तत्त्व है।

(घ) इष्ट-साधनता-ज्ञान क्रिया के करते समय कर्त्ता यह समझता है कि वह क्रिया श्रेय और शुभ है तथा उससे उसका कल्याण होगा। यही इष्ट साधनता ज्ञान है। इष्ट-साधनता-ज्ञान के संबंध में मीमांसा के प्रवर्त्तक प्रभाकर और न्यायदर्शन के विचारकों में काफी मतभेद है। प्रभाकर ने क्रिया में इष्ट-साधनता-ज्ञान को कोई स्थान नहीं दिया है। उनके कथनानुसार किसी कार्य को करते समय कर्त्ता को यह ज्ञान नहीं रहता कि उससे हित या कल्याण होगा।

किन्तु विचार करने पर प्रभाकर का यह मत युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। वस्तुतः प्रत्येक क्रिया में हित की भावना निहित रहती है और यही कारण है कि न्याय के दार्शनिकों ने इसे प्रवृत्ति के अन्तर्गत स्थान दिया है। इसी हित की भावना को बलवदिष्ट-साधनता-ज्ञान भी कहा गया है।

(ङ) उपादान-प्रत्यक्ष किसी भी कार्य को करने के लिये साधन की आवश्यकता होती है। इन साधनों को उपादान कहते हैं और इन साधनों के ज्ञान को उपादान-प्रत्यक्ष। हम किसी कार्य को करने के पहले अपने साधनों को चुन लेते हैं। वस्तुतः उपादान प्रत्यक्ष के बाद ही क्रिया आरम्भ होती है।

चिकीर्षा का विवेचन करते समय हमने देखा है कि हमारी इच्छा के मूल में राग और द्वेष रहते हैं। यहाँ हम कुछ विस्तार से उनका उल्लेख करेंगे।

१. ग्रीक दार्शनिक सुकरात ने केवल शुभ की भावना को ही समस्त क्रियाओं का एकमात्र स्रोत माना है। अशुभ तो वस्तुतः शुभ का परिहार (Privation) है। किन्तु हिन्दू-दार्शनिकों ने राग और द्वेष दोनों को ही क्रिया का स्रोत माना है।

(क) राग। सांसारिक आकर्षण की भावना को ही राग कहते हैं। वस्तुतः हम सभी के मूल में राग है। क्योंकि सुख की कामना से ही प्रेरित होकर हम किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये प्रयास करते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद में लिखा है "काममय एवायं पुरुषः" अर्थात् मनुष्य कामयुक्त है। कामना और इच्छा से प्रेरित होकर कोई काम उसका काम है। मनुस्मृति में भी कामना तथा संकल्प से ही सभी क्रियाओं का उद्भव बतलाया गया है।

"यद् यद्धि कुरुते किंचित्तत्कामस्य चेष्टितम्" दूसरे शब्दों में मानव के जितने भी कार्य होते हैं वे सब के सब काम की ही चेष्टा से। जब उसके हृदय में किसी वस्तु विशेष के प्रति राग का भाव उदित होता है तो वह उसको पाने के लिये विविध प्रकार का प्रयत्न करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुकूल पदार्थ की इच्छा ही राग है। राग के कुछ मुख्य रूप ये हैं।

(i) काम नरनारी के समागम की इच्छा को काम कहते हैं। इसकी विशेष चर्चा हम पुरुषार्थ प्रकरण के अन्तर्गत कर चुके हैं।

(ii) लोभ किसी निषिद्ध वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा को लोभ कहते है।

(iii) तृष्णा जीने की कामना को कहते हैं। मनुष्य सदा ही जीने की इच्छा करता रहता है। भर्तृहरि ने कहा है, "तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा"। अन्यत्र भी ऐसा ही कहा गया है।

अंगं गलितं पलितं मुण्डम्। दशनविहीनं जातं तुण्डम्॥
करधृतकम्पित शोभितदण्डम्। तदपि न मुंचत्याशापिण्डम्॥

अभिप्राय यह है कि अन्तकाल तक, बालों के गिर जाने पर, दाँतों के टूट जाने पर, हाथों के काँपते रहने पर भी मनुष्य जीवन की आशा का परित्याग नहीं करता है।

(iv) स्पृहा लौकिक पदार्थ के पाने की इच्छा को ही स्पृहा कहते हैं।

(v) मात्सर्य दूसरे की उन्नति सहन न होने को मात्सर्य कहते हैं।

(ख) द्वेष किसी वस्तु के प्रति विकर्षण की भावना ही द्वेष है। जिस पदार्थ के प्रति हमारा द्वेष रहता है उसे हम प्राप्त करना नहीं चाहते, उससे दूर रहना ही हमारा एकमात्र प्रयत्न रहता है। द्वेष के अन्तर्गत निम्नांकित भाव आते हैं।

(i) क्रोध यह एक ऐसा अवगुण है कि इससे मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और इसके वशीभूत होकर वह कोई भी पाप कर सकता है। भगवान नारद कहते हैं

क्रोधमूलो मनस्तापः क्रोधः संसारसाधनं।
धर्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात्तम्परिवर्जयेत् ॥

अर्थात् क्रोध ही मन के संताप की जड़ है, क्रोध ही संसार सागर में डालता है और क्रोध से ही धर्म का नाश होता है। अतएव क्रोध का सर्वथा त्याग करना चाहिये। महाभारत में भी विवेक से अपने क्रोध को दबानेवाले को ही सच्चा विद्वान् कहा गया है।

यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबाधते।
तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ॥

[वाणपर्व महाभारत]

(ii) मन्यु (छिपा क्रोध)

(iii) आमर्श प्रतिशोध लेने के भाव को कहते हैं।

(iv) ईर्ष्या दूसरे के उत्कर्ष को न देख सकने की नीच भावना ही ईर्ष्या है।

(v) द्रोह दूसरे को पीड़ा देने का भाव द्रोह कहलाता है।

(vi) अक्षमा क्षमा न करने की भावना। प्रशस्तपाद के अनुसार द्वेष में दुःख की स्मृति और भविष्य में उससे दुःख होने की आशंका निहित रहती है।

राग द्वेष मनुष्य को सांसारिकता में फँसाता है। न्याय में मोह को ही राग-द्वेष का मूल कहा गया है। मोह व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति से दूर करता है। अतः भवसागर के बन्धन से हटकर मोक्ष पाने के लिये राग-द्वेष से ऊपर उठने की आवश्यकता है। गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥
[गीता अ० ५ श्लो० ३]

अर्थात् जो पुरुष न किसी से द्वेष करता है और न किसी को आकांक्षा (राग) करता है वह निष्काम कर्मयोगी सदा संन्यासी समझने योग्य है क्योंकि रागद्वेषादि द्वन्द्वों से रहित वह पुरुष सुखपूर्वक संसाररूपी बन्धन से मुक्त हो जाता है।

कुछ व्यक्तियों ने एक आपत्ति उठाई है। उनका कथन है कि राग को सांसारिकता का बन्धन माना जा सकता है। पर द्वेष जो हमें वस्तु से विलग करता है उसे किस प्रकार बन्धन कहा जा सकता है ? किन्तु यदि हम सूक्ष्म रूप से विचार करें तो हमें स्पष्ट मालूम होगा कि वस्तु-द्वेष और वस्तु-निवृत्ति में अन्तर है। द्वेष से हम किसी वस्तु-विशेष से ही विरक्त होते हैं। अन्य पदार्थों के प्रति हमारी कामना बनी ही रहती है जो बन्धन का मूल कारण है। मोक्ष के लिये तो समस्त सांसारिक पदार्थों के प्रति निवृत्ति या त्याग का भाव आवश्यक है।

धर्म-अधर्म

धर्म शब्द के विभिन्न अर्थ हैं। इसकी उत्पत्ति संस्कृत की 'धृ' धातु से हुई है। 'धृ' का अर्थ है धारण करना। अतः धर्म धारण करने योग्य गुण है।[1] वैशेषिक सूत्र में लिखा है

"यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि स धर्मः"

१ धर्म के और भी अर्थ हैं। इसका अर्थ धारण किया हुआ गुण भी है। योगदर्शन में पतञ्जलि मुनि कहते हैं।

"योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेवधर्मः"।

अर्थात् धर्मी (जिसका धर्म हो) की योग्यतायुक्त शक्ति को ही धर्म कहते हैं। उदाहरण के लिये आग का धर्म जलाना है। पर इस अर्थ से हमें आचार-दर्शन में कुछ प्रयोजन न हो।

अर्थात् जिससे लौकिक और पारलौकिक कल्याण हो वही धर्म है। लौकिक कल्याण के लिये जो धर्म है उन्हें हम राजधर्म, प्रजाधर्म, कुल-धर्म आदि कहते हैं।

धर्म मानव-कल्याण के लिये आवश्यक है। और शायद ही कभी कोई ऐसा समय रहा हो, जब मानव के कोई-न-कोई धर्म न हो।[१]

धर्म के लक्षण।

धर्म के चार लक्षण हैं। मनु ने लिखा है

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् ॥

अर्थात् जो वेद, स्मृति, सदाचार (rules of conduct followed by the gentle) एवं आत्मा को प्रिय हो वही धर्म है अतः आत्म-प्रियता भी धर्म का एक मुख्य लक्षण है। मनु ने अन्यत्र भी कहा है "मनः पूतम् समाचरेत्"। दूसरे शब्दों में, आत्मा को जो प्रिय प्रतीत हो उसीका आचरण करना चाहिये।

जिस कर्म में उपर्युक्त चार लक्षण न पाये जायें और जिनका निषेध धर्म-शास्त्रों में बतलाया गया है वे ही अधर्म हैं।

शास्त्रकारों में से किसी ने सामान्य धर्म के लक्षण आठ, किसी ने दस, किसी ने बारह और किसी-किसी ने पन्द्रह अथवा इससे भी अधिक बतलाये हैं। श्री मद्भागवत के सातवें स्कन्ध में धर्म के तीस लक्षण बतलाये गये हैं

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥

१. cp. Talstoy "Never in any society of men, since men first became ration creatures, could they live, or have lived without a religion." (What is Religion)

Also cp. "......The average man can as little exist out of a religious element of some kind, as a fish out of the water." (M. Blavatsky's Isis Unvicled vol. 2, Page 25)

संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः ।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम् ॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः ।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः ।
सेवेज्यावनतीदास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः ।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति ॥
(श्रीमद्भा० ७।११।८-१२)

पर मनु ने केवल दस ही साधारण धर्म बतलाये हैं। मनुस्मृति में लिखा है

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
(६।९२)

अर्थात्

धर्म, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध ये ही दस साधारण धर्म हैं। साधारण धर्म से मनु का अभिप्राय उन धर्मों से है जो सभी व्यक्तियों के लिये हैं।

विभिन्न दर्शनों में धर्म का स्वरूप

(क) वैशेषिक तथा न्याय के अनुसार इनके मत के अनुसार धर्म विषय-निष्ठ (subjective) है अतः धर्म-अधर्म का निर्णय अभिप्राय (intention) पर होगा, बाह्य फल पर नहीं। मान लीजिये कि एक व्यक्ति किसी भिखारी को पैसा चलाकर मारता है। संयोगवश भिखारी को चोट नहीं लगती और पैसा उसकी झोली में आ गिरता है। यहाँ कर्म का फल अच्छा तो हुआ पर चूँकि यह कर्म दुष्ट अभिप्राय से किया गया था, अतः वह अधर्म है। इसी प्रकार जो कर्म अच्छे अभिप्राय से किया जाये वह धर्म होगा।

(ख) मीमांसा मीमांसा में धर्म विषय-निष्ठ नहीं माना गया है। इसके अनुसार वेद द्वारा निश्चित कर्म ही धर्म है। बतलाया गया है कि इन्हीं वेद निश्चित कर्मों द्वारा 'अलौकिक श्रेयस्साधन' होता है। वेद में जिन कर्मों को निषिद्ध माना गया है वे ही अधर्म हैं।

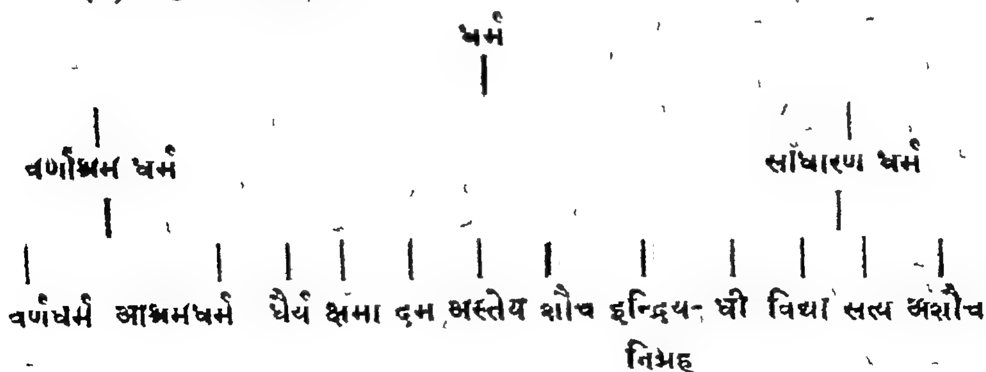
(ग) सांख्य के अनुसार इसके अनुसार पुरुष (Purusha) धर्म-अधर्म से बिल्कुल अप्रभावित रहता है। इसका कारण बतलाते हुए कहा गया है कि धर्म मन का विशेष गुण है। प्रकृति का विकसित रूप ही मन होता है। अतः धर्म का संबंध प्रकृति से हुआ, पुरुष से नहीं। धर्म-अधर्म और पुरुष एक दूसरे से बिल्कुल असंबद्ध हैं।

अन्य दार्शनिकों ने भी विभिन्न प्रकार से धर्म की व्याख्या की है, पर उन सबों का विवेचन करना यहाँ आवश्यक नहीं है।

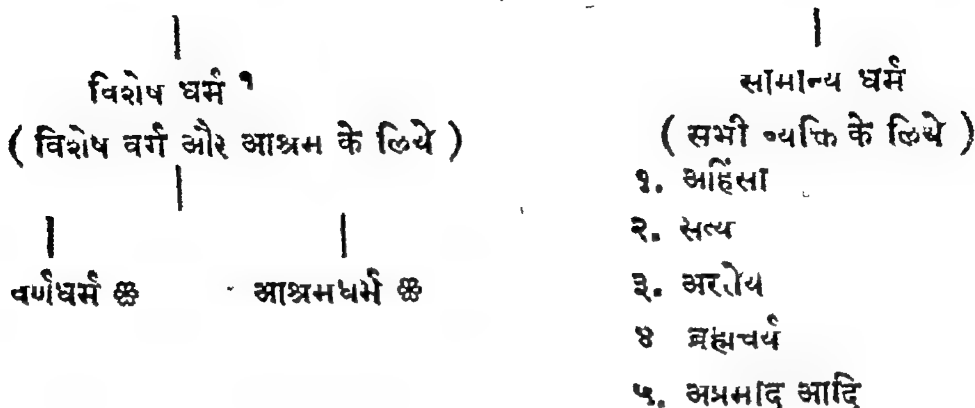
धर्म के वर्गीकरण।

मनु, और प्रशस्तपाद ने निम्नलिखित प्रकार से धर्म का वर्गीकरण किया है।

(क) मनु का वर्गीकरण



(ख) प्रशस्तपाद का वर्गीकरण



धर्म और कर्तव्य।

धर्म कल्याणकारी सिद्धान्त है। पर यह कल्याणकारी सिद्धान्त क्या है यह विषय अत्यन्त ही गहन है। इसलिये समय-समय पर साधारण जनसमुदाय के लिये काल और स्थिति का ध्यान रखकर कुछ महापुरुषों ने मनुष्य के कर्म निश्चित कर दिये हैं जिससे उन्हें धर्म के अनुसार आचरण करने में आसानी हो। महाभारत में कहा गया है

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पन्थाः।

अर्थात् धर्म का तत्व तो गुफा में छिपा है, बड़े लोगों ने जिस पथ का अनुसरण किया है वही सच्चा मार्ग (कर्तव्य) है। स्मृति-चन्द्रिका में कहा गया है।

"संन्यासं चापि साधूनां प्रमाणं वेदवत् भवेत्"

अर्थात् सज्जनों की बनाई परम्परा (कर्तव्य की) भी वेद के समान ही प्रामाणिक है। और ये ही देश, काल, समयानुसार निश्चित किये हुए कर्म कर्तव्य हैं।

१ प्रशस्तपाद के विशेष धर्म वस्तुतः मनु के वर्णाश्रम धर्म ही हैं।

* इन धर्मों की विस्तृत व्याख्या अलग २ अध्याय में की गई है।

यद्यपि धर्म निरपेक्ष है, फिर भी इसके घटक निरपेक्ष और अनन्त नहीं। नैतिकता में केवल एक ही अनन्त चीज है और वह है सदा उन्नति करने की कामना। और यह तो समय और परिस्थितियाँ ही निर्धारित करेंगी कि किस अवस्थाविशेष में क्या उपयुक्त होगा।[१]

सनातनधर्म के मानने का अर्थ यह नहीं कि स्थावर बन जाया जावे। धर्म के मर्म को समझकर समयानुकूल परिस्थिति के अनुसार कुछ नियत किये कर्म ही कर्तव्य हैं। वस्तुतः मनु के वर्णाश्रमधर्म और प्रशस्तपाद के सामान्य-धर्म कर्त्तव्य ही हैं क्योंकि वे वर्ण तथा जीवन की विभिन्न अवस्थाओं को ध्यान में रखकर नियत किये गये हैं। अत धर्म यदि कोई कल्याणकारी सिद्धान्त है तो कर्तव्य, उस सिद्धान्त का स्थिति-विशेष में प्रयोग।

धर्म और कर्त्तव्य में निम्नलिखित अन्तर है।

(१) धर्म सनातन है। कर्त्तव्य परिवर्तनशील

(२) धर्म निरपेक्ष है, कर्तव्य सापेक्ष।

(३) धर्म कल्याणकारी सिद्धान्त है[२], कर्त्तव्य स्थितिविशेष में उसका प्रयोग।

(४) धर्म किसी चीज से सीमित नहीं, कर्त्तव्य काल, देश और स्थिति से सीमित है।

(५) धर्म जाति (Genus) है, तो कर्तव्य उपजाति (Species) अर्थात् धर्म से ही कर्त्तव्य निकलते हैं। कर्त्तव्य धर्म के मर्म (सच्चा कल्याण) के विपरीत नहीं हो सकता।

धर्म को मनु ने धर्म बतलाया है। क्षमा करना कल्याणकारी है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु किस स्थितिविशेष में क्षमा करना चाहिये, किस स्थिति-विशेष में नहीं, यही हमारे कर्त्तव्य-अकर्तव्य को निश्चित करेगा। दुष्टों को

१. Though Dharma is absolute, it has no absolute and timeless content. The only thing eternal about morality is man's desire for the better. But time and circumstances determine what the better is in each situation— ।
(G. Radhakrishnan : Religion & society P. 114)

२. वेदप्रतिष्ठितम् कर्म धर्मस्तन्मङ्गलं परम्। गानु

दण्ड देने से ही धर्म होगा, क्षमा करने से नहीं। अतः इस स्थितिविशेष में अक्षमा ही हमारा कर्त्तव्य हुआ।

पाप-पुण्य

भारतीय आचार-दर्शन में पाप-पुण्य एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। पुण्य उसे माना गया है जिससे आत्म-प्रतीति (Self-realisation) हो, और पाप वे कर्म हैं जो इस आत्म-प्रतीति के साधन नहीं, प्रत्युत उसके बाधक हैं। दूसरे शब्दों में पुण्य धर्म-विहित कर्म है और पाप धर्म विरुद्ध, पुण्य सुख और स्वर्ग का पात्र बनाता है, पाप दुःख और नरक का। पाप से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और व्यक्ति नाना प्रकार का दुराचरण करने लगता है। अतः वह प्रवृत्ति जो हमें सत्पथ से दूर हटाती है वस्तुतः वही सारे पापों की जड़ में है। उसी के बाह्य रूप को हम पाप की संज्ञा देते हैं। अतः पाप नैतिक दुराचरण का पर्यायवाची है और पुण्य नैतिक शुभाचरण का।

इस संबंध में एक बात ध्यान देने योग्य है। और वह यह है कि पाप-पुण्य के निर्णय में हमें उसके मानसिक पक्ष (अभिप्राय, अभिसंधि) पर विशेष जोर देना चाहिये, केवल उसके बाह्यरूप या परिणाम पर नहीं। क्योंकि पाप या पुण्य केवल शारीरिक नहीं होते, वे मन से और वचन से भी हो सकते हैं। बल्कि सच तो यह है कि बाहर-से एकसमान दीखनेवाले कार्य में से एक पुण्य हो सकता है, दूसरा पाप। यह तो व्यक्ति के अभिप्राय या अभिसंधि (intention) पर निर्भर करता है। नीति में कहा गया है

मनसेव कृतं पापं न शरीरकृतं कृतम्
येनवालिंगिता कांता तेनैवालिंगिता सुता।

अभिप्राय यह है कि पाप मन से किया जाता है, शरीर से नहीं। क्योंकि जिस शरीर से पत्नी का आलिङ्गन किया जाता है, उसीसे पुत्री का भी, परन्तु दोनों के मूल कारण अर्थात् आंतरिक भाव एक सदृश नहीं। मन में यदि पाप की कोई भावना आ जाती है तो वह भी पाप है।[1]

१. cp. Jesus "Whoever looketh on a woman to lust after her hath committed adultary with her already in his heart." New Testament

पाप-पुण्य के संबंध में एक समस्या हमारे सम्मुख है, और वह यह है कि साधारणतः हम जीवन में उसे फलते-फूलते देखते है, जो दुराचारी है, जो पापी है। पुण्यात्मा आजीवन संकट में ही उलझे रह जाते है। अब प्रश्न यह है कि जब पाप-पुण्य का इस प्रकार उल्टा परिणाम होता है जो नैतिक जीवन के लिये प्रेरणा (impetus) ही कहाँ रह जाती ? किन्तु भारतीय धर्म-शास्त्र में इस समस्या का सम्यक् निदान भी है। हमारे दार्शनिकों का मत है कि हमारे कर्मों का फल या परिणाम साधारणतः इस जीवन में नहीं मिलता, हाँ, कर्म उत्कट हों तब बात दूसरी है। किंतु इस से घबड़ाने की कोई बात नहीं। इस जीवन के बाद भी जीवन है, जब हमें अपने पापों का दुष्परिणाम भोगना पड़ेगा। पापों का दुष्परिणाम अवश्यमेव मिलता है, चाहे वह दूसरे ही जीवन में क्यों न मिले। आत्मा के इस अमरत्व में विश्वास और पुनर्जन्म की कल्पना हमें नैतिक जीवन की प्रेरणा प्रदान करती है।[1]

हाँ, बौद्ध न तो आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते, न ईश्वर के। फिर भी उनके नैतिक आदर्श बहुत ऊँचे हैं। कारण यह है कि वे भी पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं और उनकी आस्था है कि सत्कार्य का परिणाम अवश्यमेव अच्छा होता है, बुरे कार्यों का बुरा।

---

1. Emmanuet Kamt के अनुसार भी नैतिक जीवन की आधारशिला आत्मा के अमरत्व और परमात्मा की पूर्णता में विश्वास।

आत्मा के अमरत्व और मनुष्य के नैतिक उत्तरदायित्व के विषय में डाक्टर ऐनी बेसैंट (Dr. Annie Besant) की निम्नांकित पंक्तियाँ विचारणीय हैं—

With incarnation man is dignified immortal being evolving towards a divinely glorious end, without it he is a tossing straw on the stream of chance circumstances, irresponsible for his character, for his activities and for his destiny. With it he may look forward with fearless hope, however low in the scale of evolution he may be today, for he is on the ladder to divinity and his climbing to its summit is only a question of time. Without it he has no reasonable ground of assurance as to progress in the future nor indeed any reasonable ground of assurance in future at all."

वर्ण

सबसे पहिले पुरुषसूक्त[1] में ही हमें वर्ण का वर्णन मिलता है। वर्ण चार माने गये हैं (क) ब्राह्मण, (ख) क्षत्रिय (ग) वैश्य (घ) शूद्र। हिन्दू धर्मशास्त्रों में प्रत्येक वर्ण के अलग-अलग कर्तव्य निश्चित कर दिये हैं।

ब्राह्मण साधारणतः पुरोहित होते थे। उन्हें समाज का मार्ग-प्रदर्शक भी माना जाता था।

शासन का भार क्षत्रियों पर था। शासन, देश की संरक्षा और दुष्टों का संहार इनका धर्म माना गया था। वैश्य व्यापार करते थे और शूद्र उपर्युक्त तीनों जातियों की सेवा। मनुस्मृति में इन चारों वर्ण के कर्तव्य का सविस्तार उल्लेख करते हुए कहा गया है।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्ती च क्षत्रियस्य समादिशत्॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिकपथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्॥
एतेषामेववर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥

[मनुस्मृतिः ८७-९१]

अर्थात् पढ़ना, दूसरों को पढ़ाना, यज्ञ करना तथा दूसरों को यज्ञ करने और दान देने की विधि बताना एवं दान ग्रहण करना ये कार्य ब्राह्मणों को दिये गये।

और क्षत्रियों का कर्तव्य था प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेदाध्ययन करना और विषय से विरक्त होना।

जन्तुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेदाध्ययन करना, वाणिज्य-व्यापार तथा खेती करना, वैश्यों का कर्तव्य है।

१. ऋग्वेद का एक अंश।

और शूद्रों को भगवान ने केवल एक ही काम दिया और वह था स्वेच्छा से ऊपर के तीनों वर्णों की सेवा करना।

वर्ण-विभाजन के मूल में समाज-कल्याण की भावना निहित है[1]। समाज-विकास के लिये यह आवश्यक है कि सभी जाति के लोग सहयोग से काम करें। एक ही व्यक्ति यदि एक सफल साधु, एक कुशल कलाकार तथा एक दूरदर्शी दार्शनिक बनना चाहे तो यह असम्भव है। सम्भवतः इसी सिद्धान्त के अनुसार समाज को चार वर्णों में विभक्तकर उसके अलग-अलग कर्तव्य निश्चित कर दिये गये थे। वर्ण-व्यवस्था द्वारा एक ऐसे सामाजिक जीवन पर जोर डाला गया जहाँ-दुष्ट प्रतियोगिता का कोई भी स्थान न था। डा० राधाकृष्णन् लिखते हैं कि "सामाजिक पक्ष से देखने पर वर्ण-व्यवस्था मानव-संगठन का परिणाम है, किसी दैवी विधान का रहस्य नहीं। यह वास्तविक विभेद और आदर्श एकता को ध्यान में रखते हुए समाज-सुसंगठन का एक प्रयत्न है[2]"

यद्यपि इस व्यवस्था का उद्देश्य आनुवंशिकता तथा शिक्षा के समुचित उपयोग से विभिन्न जाति (वर्ण) के सदस्यों में योग्य (proper) विचार तथा परम्परा का विकास करना ही था, फिर भी इसे कट्टरता के साथ नहीं माना गया है। विशेष परिस्थितियों में व्यक्ति तथा समूह अपनी सामाजिक जाति या वर्ण को बदल सकते थे। विश्वामित्र, अजामिध तथा पुरामिध ब्राह्मण जाति के अन्तर्गत ले लिये गये और उन्होंने वैदिक प्रार्थनायें भी बनायीं। यास्क (Yaska) ने अपने "निरुक्त" में शान्तनु तथा देवापी नामक दो भाइयों के विषय में कहा है कि उनमें से एक क्षत्रिय राजा हो गया और दूसरा ब्राह्मण पुरोहित। जनक जन्म से क्षत्रिय होते हुए भी अपनी परिपक्व विद्वत्ता और

१. लोकाना तु विवृद्धि अर्थम्।

[मनु]

"Caste on its social side is a product of human organisation and not a mystery of divine appointment It is an attempt to regulate society with a view to actual differences and ideal unity."

[Dr. S. Radhakrishnan . Hindu view of Life P.]

पवित्र चरित्र के कारण 'ब्राह्मण' माने गये हैं.............शूद्र होते हुए भी व्यक्ति अच्छा कार्य करने पर ब्राह्मण हो सकता है¹ ।"

न योनिर्नापि संस्कारो न श्रुतं न च सन्ततिः ।
कारणानि द्विजत्वस्य वृतमेव तु कारणाम् ॥

उपर्युक्त श्लोक का अभिप्राय यह है कि जन्म, संस्कार, वेदाध्ययन और वंश से कोई द्विज नहीं होता । वस्तुतः आचरण ही इसका कारण है । धम्मपद में भी यही लिखा है ।

न जटाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
यम्हि सच्चञ्च धम्मो च सो सुचि सो च ब्राह्मणो ॥

[धम्मपद २६।११]

अर्थात्, न जटा से, न गोत्र से और न जन्म से कोई ब्राह्मण होता है । जिसमें सत्य और धर्म है, वही शुद्ध है, वही ब्राह्मण है ।

शास्त्रों के स्पष्ट आदेश के रहते हुए भी इस वर्ण-व्यवस्था ने अत्याचार और असहिष्णुता का रूप धारण कर लिया । और धीरे-धीरे ऊँच-नीच का भेद

१. While it was the intention of the scheme to develop the requisite spirit and tradition in the members of the classes by a proper employment of the forces of heredity and education, it was not viewed in a rigid way. In special cases, individuals and groups changed their social class. Visvamitra, Ajamidha, and Puramidha were admitted to the status of the Brahmin class, and even composed vedic hymnsyaska, in his Nirukta, tells us that of two brothers, santanu and Devapi, one became Ksatriya king and the other a Brahmin priest ....Janaka, a Ksatriya Brahmin by virtue of his ripe wisdom and saintly character....... Even though a Shudra, if you do good, you become a Brahmin."

[Dr. S. Radhakrishnan : Religion and society P. 131]

बढ़ने लगा। पर ऐसा ठीक नहीं। वस्तुतः सभी वर्ण समाज के आवश्यक अंग हैं। न कोई ऊँच है और न कोई नीच।

महात्मा गाँधी ने वर्ण व्यवस्था के ऊँच नीच के झूठे भाव को दूर करने का सराहनीय प्रयत्न किया।

आश्रम

वेद और ब्राह्मण में ही हम आश्रम का उद्भव पाते हैं और उपनिषद्काल तक यह मानव जीवन की व्यावहारिक व्यवस्था बन चुका था। वर्ण-विभाजन के मूल में समाज कल्याण की भावना निहित थी। ठीक उसी प्रकार जीवन में संतुलन लाने तथा आध्यात्मिक विकास के उद्देश्य से हमारे सूक्ष्मदर्शी ऋषियों ने मनुष्य के समस्त जीवन को चार आश्रमों में बाँटा है, (१) ब्रह्मचर्य आश्रम (२) गृहस्थ आश्रम (३) वानप्रस्थ आश्रम (४) संन्यास आश्रम।

आश्रम का अभिप्राय होता है विश्रामस्थल। अतः ये आश्रम हमारी जीवन-यात्रा के चार विश्रामस्थल हैं। संतुलित जीवन व्यतीत करने के लिये यह आवश्यक है कि मानव क्रमशः इन चारों आश्रम से होता हुआ अपना जीवन-यापन करे। सभी आश्रम आवश्यक हैं और प्रत्येक का अपना-अपना सुनिश्चित कर्तव्य है। मनु तथा प्रशस्तपाद द्वारा बतलाये गये विशेष धर्म वस्तुतः आश्रम धर्म ही हैं। जो व्यक्ति जिस आश्रम में हो उसके लिये उसी आश्रम विशेष का धर्म पालन करना उचित है। एक ब्रह्मचर्य को गृहस्थाश्रम की ओर आकर्षित होना ठीक नहीं और न एक गृहस्थ को समय से पहले संन्यास या वानप्रस्थाश्रम का अनुसरण करना ही उचित है। जीवात्मा का पूर्ण विकास तभी हो सकता है जब कालक्रम से सभी आश्रम के कर्तव्यों का पालन किया जाये, अन्यथा नहीं। हम यहाँ संक्षेप में इन चारों आश्रम के कर्तव्य पर विचार करेंगे।

ब्रह्मचर्याश्रम

यह प्रथम आश्रम है। इस आश्रम में व्यक्ति अपने जीवन के अन्य आश्रमों की तैयारी करता है। गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रम के कर्तव्यानुसार उसे क्रमशः घरबार चलाना, वन में जाकर तपस्या करना तथा संसार को

सदुपदेश देना पड़ता है। अतः यह आवश्यक है कि वह शरीर से नीरोग और पुष्ट रहे, उसे कष्ट सहने की शक्ति हो तथा वह ज्ञानार्जन करे। वस्तुतः इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ही ब्रह्मचर्याश्रम की व्यवस्था की गयी है। हिन्दू-धर्मशास्त्रों में इसकी महिमा बतलायी गयी है।

शास्त्रों का कथन है कि आठ से बारह वर्ष की अवस्था के भीतर पिता यज्ञोपवीत करा बालक को गुरुकुल भेज दे जहाँ कम से कम बारह साल तक रहकर उसे अध्ययन करने का आदेश है। ब्रह्मचर्य के लिये इन्द्रियनिग्रह वाँछनीय बतलाया गया है। एक ब्रह्मचर्य के लिये यह आवश्यक है कि वह अपनी समस्त इन्द्रियों पर नियंत्रण रक्खे तथा आठों प्रकार के मैथुन[1] से बचे। साथ ही यह भी आवश्यक है कि वह सभी प्रकार के भोग-विलास से दूर रहे। आँखों में अंजन लगाना, मीठा भोजन तथा माँस खाना, पलंग या मुलायम बिछावन पर सोना ये सभी वर्जित हैं। उसके सम्मुख साधारण जीवन और उच्च विचार का आदर्श रखा गया है। प्रतिदिन व्यायाम और संध्या करना, जप करना, भिक्षाटन करना, गुरु की सेवा करना, इन्द्रिय-निग्रह तथा विद्याध्ययन यही इस आश्रम के मुख्य कर्तव्य हैं।

गृहस्थाश्रम

विद्या और स्वास्थ्य प्राप्त करके समावर्तनकाल के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की विधि है। मनु ने लिखा है

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्॥

अर्थात् एक, दो अथवा सभी वेदों का अध्ययन तथा ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालनकर उसे (ब्रह्मचारी) को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिये।

विवाह करना तथा घर-बार चलाना गृहस्थाश्रम का आधार है। अतः पत्नी पर प्रेम रखना एक गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य माना गया है। मनु ने कहा है कि जिस घर में स्त्री पुरुष एक दूसरे से प्रसन्न रहते हैं वहीं कल्याण है

१. नारी के ध्यान, कथा, स्पर्श, क्रीडा, दर्शन, आलिंगन, एकान्तवास तथा समागम यही आठ प्रकार के मैथुन बतलाये गये हैं।

तथा जहाँ नारी प्रसन्न है वहीं ईश्वर भी प्रसन्न है। पति को चाहिये कि वह अपनी पत्नी को अर्धांगिनी समझे, दासी नहीं। क्योंकि हमारे धर्मशास्त्रों ने दोनों को समान माना है। ऋग्वेद ५, ६१, ८ की टीका करते हुए सायन (Sayana) ने लिखा है "पति और पत्नी एक ही वस्तु के दो समान अर्धभाग होने के कारण सभी दृष्टि से परस्पर बराबर है। दोनों को सभी धार्मिक और लौकिक कार्यों में समान भाग लेना चाहिये।"[1] पति-पत्नी की यह समानता दम्पति शब्द की व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट है। दं का अर्थ गृह होता है और पति का अर्थ स्वामी, अर्थात पति-पत्नी दोनों ही गृह के स्वामी हैं चूँकि दम्पति शब्द पतिपत्नि दोनों का सामूहिक नाम है।

देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, तथा मनुष्ययज्ञ नामक ये पंचमहायज्ञ गृहस्थाश्रम के मुख्य कर्तव्य हैं

(क) देवयज्ञ अर्थात् देवताओं की पूजा। सूर्य्यपूजा और अग्निपूजा भी देवयज्ञ के अन्तर्गत हैं। हिन्दूधर्मशास्त्रों में इस यज्ञ के अनेक नियम बतलाये गये हैं, जैसे स्नान, संध्या तथा गायत्रीजप।

(ख) ब्रह्मयज्ञ वेदाध्ययन को ब्रह्मयज्ञ कहते हैं। अतः हम देखते है कि न केवल ब्रह्मचर्याश्रम में वरन् गृहस्थाश्रम में भी वेद के अध्ययन का आदेश है।

(ग) पितृयज्ञ- दिवंगत मातापिता तथा अन्य संबंधियों के प्रति भी गृहस्थ के कुछ कर्तव्य माने गये हैं जिसे पितृयज्ञ कहते है। परलोकवासी सम्बन्धियों का स्मरण कर जल की अंजलियाँ देना, यज्ञ करना, दान देना, श्राद्ध करना आदि पितृयज्ञ के मुख्य कर्तव्य हैं।[2]

१. Also compare Tennyson
"The woman were an equal to the man"
"For woman is not undevelopt man,
But divorse"
"The woman's cause is man's : they rise or sink,
Together, dwarf'd of godlike, bondor free :"
(The Princess)

२. ईरान, ग्रीस, रोम आदि अनेक प्राचीन देशों में इसकी प्रथा थी। पारसियों तथा जापानियों में यह रिवाज अब तक है।

(घ) भूतयज्ञ सभी प्राणियों की सुख की कामना कर उन्हें भी अपने अन्न में से भाग देना भूतयज्ञ कहलाता है। पशु-पक्षी, कीट-पतंग सब प्राणियों पर दया दिखलाना तथा उनका भरण-पोषण करना भूतयज्ञ का वास्तविक अर्थ है।

(ङ) मनुष्ययज्ञ इसका संबंध अतिथिसत्कार से है। गृहस्थ का यह मुख्य कर्त्तव्य है कि वह अपने घर आये हुए अतिथि का पूर्ण सत्कार करे। अतिथि को देवतातुल्य माना गया है

"पूजनीयो यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः" हितोपदेश

अतः उसका सम्मान करना गृहस्थ का धर्म है।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। बुद्ध और ईसाई धर्म में जहाँ सांसारिक जीवन को संन्यास के जीवन से नीचा माना गया है वहाँ सनातन हिन्दू-धर्म ऐसा नहीं मानता।[1] गृहस्थाश्रम की प्रशंसा में मनुस्मृति में लिखा है

यथा वायुं समाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते इतराश्रमाः ॥३।७७॥

अर्थात् जिस प्रकार सभी प्राणी वायु के कारण ही जीवित रहते हैं, ठीक उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थाश्रम पर निर्भर हैं।

वानप्रस्थाश्रम

गृहस्थाश्रम के पश्चात् मनुष्य वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करता है। मनु ने कहा है

१. "While some forms of Christianity and Buddhism judge the life of the world to be inferior to the life of the monk, and would have loved to place the whole of mankind at one swoop in the cloister, Hinduism while appreciating the life of the Sannyasin refrained from condemning the state of the householder. Every state is necessary, and in so far as it is necessary it is good.

[Dr. S. Radhakrishnan : The Hindu view of Life p. 91.

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्य तथापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥

अर्थात् बालों के पकने, शरीर पर झुर्रियाँ पड़ जाने के बाद गृहस्थ को वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिये।

ईश्वर के निरन्तर ध्यान के उद्देश्य से गृहस्थ घर छोड़ वन चला जाता है। यदि पत्नी की इच्छा हो तो उसे भी साथ ले जाने की अनुमति है। प्राचीनकाल में सूर्य्यवंशी राजाओं ने पत्नी के साथ ही वानप्रस्थ लिया था। सब प्रकार का कष्ट सहना, प्राणीमात्र पर दया रखना, ईश्वर में चित्त लगाना तथा धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन करना इस आश्रम के मुख्य धर्म हैं।

संन्यासाश्रम

यह अन्तिम आश्रम है। ऊपर हमने देखा है कि वानप्रस्थ में भी थोड़ा-बहुत संसार से संबंध रहता ही है जैसे आश्रम में पत्नी के साथ या अकेले रहना तथा अतिथि के आने पर उसका सत्कार करना। किन्तु संन्यासाश्रम में समस्त सांसारिक बन्धन और कर्मों से संन्यास लेना पड़ता है। भिक्षा माँगकर भोजन करना, सदा परमात्मा का चिंतन करना तथा अपने ज्ञान से संसार की भलाई करते रहना एक संन्यासी का मुख्य कर्त्तव्य है। उसे शान्त-चित्त, क्षमाशील तथा दयालु होना चाहिये।

पुरुषार्थ

पिछले प्रकरण में हम देख चुके हैं कि मानव में स्वतंत्र इच्छाशक्ति है और वह जो चाहे कर सकता है। प्रश्न यह है कि मनुष्य के लक्ष्य या उद्योग का विषय क्या हो। संकटों से बचना तो वह चाहेगा ही और इसके लिये वह सतत प्रयत्न करता भी है। कपिल ने सांख्य-दर्शन में दुःख के निवारण के लिये इन्हीं किये गये कार्यों को पुरुषार्थ (पुरुष + अर्थ = लक्ष्य) की संज्ञा दी है। "त्रिविधं दुखमत्यंत निवृत्तित्यंत पुरुषार्थः" ऐसा उन्होंने कहा है। कपिल के उपर्युक्त कथन में सत्यता का पुट तो है परन्तु उसका संकेत पुरुषार्थ या मानव के लक्ष्य के केवल नकारात्मक पहलू (Negative aspect) के

प्रति ही है। मनुष्य केवल संकट या दुःख से बचना ही नहीं चाहता, उसके प्रत्येक कार्य में सुख की लालसा छिपी रहती है। अधिकाधिक सुख प्राप्त करना ही उसका अभीष्ट होता है। ऐसे कौन कौन लक्ष्य हैं जिनके लिये प्रयत्न कर मानव सुखोपभोग कर सकता है? सच तो यह है कि मानव के लक्ष्य के संबंध में भारतीय दार्शनिक एकमत नहीं हैं। जो केवल भौतिकवादी हैं, जिनके लिये यह जीवन ही सब कुछ है, उनके सुख की परिभाषा भी संकुचित होगी ही। जो केवल यह मानते हैं कि "इस पार मधु है और तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा" उनके लिये 'धर्म' और 'मोक्ष' कुछ स्थान नहीं रखता। यही कारण है कि चार्वाक ने केवल 'काम' और 'अर्थ' को ही जीवन का ध्येय माना है। यह नहीं कि 'काम' और 'अर्थ' का सुख-प्राप्ति में स्थान नहीं, पर केवल इनको ही जीवन का लक्ष्य मानना विचार की एकांगिता प्रकट करता है। इसलिये अधिकांश दार्शनिक पुरुषार्थ (जीवन के अर्थ या लक्ष्य) के चार भेद बताते हैं

(१) काम
(२) अर्थ } ऐन्द्रिक सुख के लिये

(३) धर्म
(४) मोक्ष } आत्मिक सुख के लिये

मनुष्य केवल 'अस्थि-चरम-मय' ही नहीं कि वह ऐन्द्रिक सुख से ही संतुष्ट हो जायेगा। वह तो आत्मा भी है। वह अपनी नैतिक पिपासा (Spiritual thirst) की तुष्टि चाहता है जो उसे धर्म और मोक्ष से ही प्राप्त हो सकती है।

यहाँ सर्वप्रथम पुरुषार्थ के इन चारों भेदों की अलग-अलग व्याख्या कर देना अधिक उपयुक्त होगा। पर मोक्ष (पुरुषार्थ का एक भेद) की चर्चा अगले प्रकरण 'निःश्रेयस्' (Highest Good) में करेंगे।

काम

(क) ऊपर कहा गया है कि काम मानव जीवन का लक्ष्य है। अर्थात् यह भी हमारी सुख प्राप्ति में सहायक है। वात्स्यायन के अनुसार 'काम' शब्द के

दो अर्थ हैं—(१) सामान्य अर्थ और (२) विशेष अर्थ। सामान्य अर्थ में कोई भी ऐन्द्रिक सुख (Sensuous Pleasure) 'काम' के अन्तर्गत आता है। जैसे मनोहर दृश्य, मधुरगन्ध, माधुर्य मय गीत आदि के अनुभव को भी हम काम ही कहते हैं। पर इसका एक विशेष और संकुचित अर्थ भी है जिसका अभिप्राय नर-नारी के संयोग (Sexual Intercourse) से है। नर-नारी का यह निःसंकोच पारस्परिक मिलन कम सुखप्रद नहीं। और वास्तविकता तो यह है कि यह अनैतिक भी नहीं। डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में 'हिन्दू-धर्म में यौन-जीवन को किसी भी प्रकार अस्वस्थ नहीं माना गया है" In Hindu Religion there is nothing unwholesome about the sex life) यहाँ तक कि भारतीय देव-देवियों के भी विवाहित होने की कल्पना की गई है। राम, कृष्ण, शिव सभी विवाहित थे। विवाह को उन्होंने आध्यात्मिक उन्नति का साधन माना है।

यौनसुख मानव का अभीष्ट है, इसमें संदेह नहीं। यह स्वाभाविक भी है। सुखवादियों तथा भौतिकवादियों की भूल केवल इतनी ही है कि वे इस सुख को ही जीवन का ध्येय या पुरुषार्थ मानते हैं। "अङ्ग वा लिङ्ग वाजन्यं सुखमेव पुमर्थता" अर्थात् स्त्री का आलिङ्गन ही पुरुषार्थ है। धर्म और मोक्ष जो हमारे नैतिक सुख के साधन हैं, उन्हें वे कोई स्थान नहीं देते। वैसे इन्द्रिय-सुख भोगना बुरा नहीं, उनमें लिप्त होना बुरा है। गीता में लिखा है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ अध्याय २ श्लोक ६४ ॥

अर्थात् स्वाधीन अन्तःकरणवाला पुरुष रागद्वेष से अपने वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ अन्तःकरण की प्रसन्नता प्राप्त करता है।

अर्थ

(ख) अर्थ को पुरुषार्थ के भेदों में द्वितीय स्थान दिया गया है। अर्थ पर न केवल मानव का सुख बल्कि उसका जीवन निर्भर करता है। यथार्थता तो यह है कि अर्थ के बिना जीवन व्यर्थ हो जाता है और उसके अभाव में

सुख की कामना भी हम नहीं कर सकते। भर्तृहरि ने अर्थ की महत्ता बतलाते हुए लिखा है

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स पण्डितः स श्रुतवान् स गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ते।[1]

अर्थात् जिसके पास अर्थ या सम्पत्ति है वही व्यक्ति, अच्छा कुलवाला, ज्ञानी, पण्डित, गुणी, वक्ता तथा सुन्दर माना जाता है। सभी गुणों की खान अर्थ ही है। पूँजीवादी व्यवस्था को शोषित जनता से उपर्युक्त कथन की सत्यता छिपी नहीं है। आज जिसके पास वैभव नहीं वह सुख कहाँ से पाये। वह तो पशु की जिन्दगी बिताता है। अतः, अर्थ जैसी महत्त्वपूर्ण वस्तु की प्राप्ति को ठीक ही जीवन का ध्येय या पुरुषार्थ बताया गया है। धन से ही धर्म और सुख की प्राप्ति होती है। कहा गया है

"धनात् धर्मं ततः सुखम्"

अर्थात् धन से धर्म और धर्म से सुख मिलता है।

धर्म

(ग) हमने ऊपर देखा है कि चार्वाक तथा अन्य भौतिकवादी दार्शनिकों ने धर्म को पुरुषार्थ या जीवन का लक्ष्य नहीं माना है। और यह उनके संकुचित दृष्टिकोण का ही फल है। उनकी दृष्टि में धर्म केवल पारलौकिक सुख या कल्याण का साधन है और पारलौकिक जीवन या सुख की मान्यता को तो वे स्वीकार ही नहीं करते। पर हम यह निःसङ्कोच कह सकते हैं कि ऐसे भौतिकवादी दार्शनिकों का दृष्टिबिन्दु अत्यन्त ही सङ्कीर्ण है। धर्म केवल हमारे पारलौकिक आनन्द का ही साधन नहीं, वह उन आचरणों का समुदाय भी है जिनके पालन से समाज सुसंगठित रहता है। इसी अर्थ में राज-धर्म, प्रजा-धर्म, कुल-धर्म, देश-धर्म आदि शब्दों का व्यवहार हुआ है।

१. C. F. G. B. S. "Money is the most important thing in the world. It represents health, strength, honour, generosity, and beauty, as the want of it represent illness, weakness, disgrace, meanness, and ugliness.

सच तो यह है कि धर्म के पालन से हमारा ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार का कल्याण होता है। वैशेषिकाचार्य मुनि ने ठीक ही कहा है

"यतोऽभ्युदय निःश्रेयः सिद्धिः स धर्मः।"

अर्थात् जिससे लोक और परलोक की सिद्धि हो वह धर्म है।

धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध आदि कुछ ऐसे धर्म हैं जिनका पालन सबों के लिये उचित है। ये हमें न केवल जीवन में सफल बनाते वरन् इनसे पारलौकिक जीवन भी सुखमय होता है।

मनु तथा प्रशस्तपाद ने धर्म के दो भेद बतलाये हैं सामान्य धर्म तथा विशेष धर्म। सामान्य धर्म वह है जो सबके लिये है, और विशेष धर्म प्रत्येक वर्ण और आश्रम के लिये। हम इनकी विशेष चर्चा धर्म के प्रकरण में करेंगे। यहाँ इतना ही जान लेना यथेष्ट होगा कि धर्म से हमारा लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार का कल्याण होता है। धर्म सचमुच ही हमारे जीवन का ध्येय या पुरुषार्थ होना चाहिये।

मोक्ष

(घ) मनुष्य का चौथा पुरुषार्थ या लक्ष्य मोक्ष है। यह हमारा चरम लक्ष्य या निःश्रेयस (Summum Bonum) भी है। और सभी लक्ष्य जैसे काम, अर्थ, और धर्म इसके अन्तर्गत आते हैं। इससे बढ़कर दूसरा कुछ नहीं। यह सच्चिदानन्द की अवस्था है। इसका सविस्तार विवेचन हम अभी निःश्रेयस् शीर्षक के अन्तर्गत कर रहे हैं।

निःश्रेयस्

निःश्रेयस् के अर्थ को अच्छी तरह समझने के लिये हमें श्रेय शब्द के भाव का सम्यक् ज्ञान होना आवश्यक है। क्योंकि निःश्रेयस् शब्द में श्रेय ही प्रधान है। जिस प्रकार प्रेय का अर्थ होता है सुखकर, उसी प्रकार श्रेय का अर्थ है शुभकर। प्रेय (Pleasurable) 'सुन्दरम्' है तो श्रेय 'शिवम्'। श्रेय भी प्रेय हो सकता है, परन्तु अधिकतर इन दोनों में विरोध

ही है। शराब पीना प्रेय है, पर श्रेय नहीं। प्रेय का संबंध विषय-सुख से है और श्रेय का आत्मिक-सुख या संतोष से। श्रेय का सुख या संतोष नित्य है क्योंकि उसका संबंध आत्मा से है। प्रेय का सुख क्षणिक है और वह इसलिये कि इन्द्रियाँ क्षणिक हैं।

श्रेय दो प्रकार के होते हैं- (क) सापेक्ष (Relative), (ख) निरपेक्ष। सापेक्ष श्रेय निःश्रेयस् या परम श्रेय के साधन रूप में है, जैसे काम, अर्थ, धर्म आदि। निःश्रेयस् वह लक्ष्य है जो स्वयं अपना साध्य है। उसे प्राप्त कर लेने पर किसी चीज की कामना नहीं रह जाती। यह एक पूर्णावस्था है। हम पहले देख चुके हैं कि भारतीय दार्शनिकों में मोक्ष या मुक्ति को ही निःश्रेयस् कहा है।

निःश्रेयस् का स्वरूप (Nature of the Highest Good)

हमारे जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष है ऐसा तो अधिकतर विचारकों ने माना है। पर मोक्षावस्था के वास्तविक स्वरूप को लेकर उनमें कुछ भेद है। हम यहाँ संक्षेप में यह विचार करेंगे कि वेदान्त, वैशेषिक, न्याय तथा सांख्य के अनुसार मोक्ष है क्या।

(क) वेदान्त के अनुसार चरम आनन्द की अवस्था ही मोक्ष है ऐसा वेदान्तवादी कहते हैं। किन्तु यह आनन्द क्षणिक नहीं, क्योंकि यह अनुभव-जन्य (Sensuous) भी नहीं। और जो अनुभवजन्य है, वही क्षणिक भी होता है। मोक्ष से हमें आत्मिक सुख मिलता है जो सत्य भी है और नित्य भी। उपनिषद् में लिखा है

ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानन्दरूपं सच्चिदानन्दरूपमिदं सर्वम्।

अर्थात् यह सब सच्चिदानन्द है और सच्चिदानन्द ही यह है।

जब द्वैतभाव का नाश हो जाता है, जब 'अहम्' का अज्ञान मिट जाता है और जब व्यक्ति परमात्मा के साथ तादात्म्य (Oneness) का भाव अनुभव करने लगता है तो वैसी ही अवस्था में मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस अवस्था में न हमें कोई शोक होता है और न मोह ही। श्रुति में लिखा है

"तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः"

अर्थात् जब तादात्म्य या एकता का भाव अनुभूत होने लगता है तब शोक कहाँ और मोह कहाँ ? वेदान्तियों के अनुसार मोक्ष की अवस्था इस जीवन में भी पायी जा सकती है

(ख) वैशेषिकों का मत वैशेषिकों ने मोक्ष को अनुभव रहित अवस्था बतलाया है और अनुभव रहित होने के कारण इस अवस्था में दुःख का कोई स्थान ही नहीं, क्योंकि दुःख तो अनुभवजन्य है। इस अवस्था में पहुँच कर आत्मा धर्म-अधर्म, सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, संस्कार तथा बुद्धि अपने इन नौ गुणों को त्याग देती है। और इन्हें त्यागने के पश्चात् आत्मा सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाती है। वह केवल संतोष की अनुभूति करती है, वह भी चेतनरूप में नहीं।

(ग) न्याय का विचार नैयायिक मोक्ष के संबंध में वैशेषिकों के विचार से सहमत हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि वे संतोष को भी मोक्ष में कोई स्थान नहीं देते। उनका कथन है कि सुख या दुःख निरपेक्ष नहीं। जब सुख या संतोष होगा तो दुःख भी होगा ही। केवल सुख की कल्पना करना विचारसंगत नहीं प्रतीत होता। अतः मोक्ष ऐसी अवस्था है जहाँ किसी भी प्रकार का अनुभव संभव नहीं।

(घ) सांख्य का मत सांख्य के विचारकों का मत भी तात्विकरूप से वही है जो नैयायिकों तथा वैशेषिकों का। वे भी मोक्ष को पूर्ण अनुभव-हीनता की अवस्था बतलाते हैं। जब अज्ञानवश हमारी आत्मा (पुरुष) मन से (जो प्रकृति का विकसित रूप है) ऐक्यभाव का अनुभव करता है तभी सुख और दुःख की अनुभूति होती है। परन्तु ज्ञान और विवेक से अज्ञान का यह अन्धकार दूर हो जाता, प्रकृति और पुरुष का भेद भी स्पष्ट दीखने लगता और तब आत्मा अनुभव-रहित हो जाती है सुख दुःख की परिधि से न्हुत परे। यही मोक्ष या मुक्ति है। सांख्य में इसी कारण मोक्ष प्राप्ति के लिये ज्ञान पर विशेष जोर दिया गया है।

हमने अभी मोक्ष के संबंध में वेदान्त, सांख्य, न्याय तथा वैशेषिक के विचार देखे हैं। वे सभी अपने-अपने तरीके से मोक्ष के स्वरूप की व्याख्या करते है। अब हमारे सम्मुख स्वाभाविक रूप से जो प्रश्न उठता है वह यह है कि मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो।

निःश्रेयस् की सिद्धि या मोक्षसाधन

पिछले अध्याय में निःश्रेयस् के अर्थ और उसके स्वरूप के विषय में हम अध्ययन कर चुके हैं। हम यह भी जानते हैं कि यह निःश्रेयस मोक्ष ही है। इसी मोक्ष की प्राप्ति के लिये दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाये हैं, जैसे विवेक, संयम, निवृत्ति और निष्काम कर्म। मोक्षप्राप्ति के ये विभिन्न मार्ग परस्पर-विरोधी नहीं। वस्तुतः सभी का उद्देश्य एक ही है। मोक्ष के लिये संयम भी उतना ही आवश्यक है जितना विवेक और निवृत्ति या निष्काम कर्म। वेदान्तदर्शन के प्रथम सूत्र की व्याख्या करते हुए श्री शंकराचार्य ने ब्रह्मजिज्ञासा या मोक्ष के लिये ये बातें आवश्यक बतलायी हैं

(क) मुमुक्षत्वम् अर्थात् मुक्ति या मोक्ष की लालसा।

(ख) नित्यानित्य वस्तुविवेक अर्थात् क्या नित्य है क्या अनित्य इस भेद को बतलाने वाली बुद्धि या विवेक।

(ग) शमदमादि साधन सम्पत् अर्थात् शम (मन शान्त रखना) तथा दम (इन्द्रियों को वश में रखना आदि साधन।

(घ) इहामुत्रार्थभोगविराग अर्थात् सांसारिक और असांसारिक सुखों के भोग से विरागभाव का उत्पन्न होना या निवृत्ति और निष्काम कर्म।

यह तो स्पष्ट ही है कि मोक्ष सिद्धि के लिये हममें उसकी लालसा होनी चाहिये। पर इतना ही यथेष्ट नहीं। इसके लिये हममें विवेक, संयम तथा निवृत्ति का होना अपेक्षित है। अतः मुक्ति के इन साधनो का सम्यक् अध्ययन आवश्यक है।

विवेक

सांख्य के अनुसार निःश्रेयस् के अर्थ और स्वरूप की विवेचना करते समय हमने यह देखा है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिये ज्ञान या विवेक पर

अधिक जोर दिया गया है। सांख्य के दार्शनिकों ने अज्ञान को ही सांसारिक दुःख और बन्धन का सच्चा कारण माना है। अतः ज्ञान या विवेक मोक्ष की पहली शर्त है। अज्ञान हमें प्रकृति और पुरुष के भेद को नहीं जानने देता और अन्ततोगत्वा वही हमारे दुःख का कारण बनता है। हम भ्रमवश प्रकृति और पुरुष को एक समझने लगते और यह भूल जाते हैं कि प्रकृति क्रियाशील है और पुरुष सभी प्रकार की क्रियाओं से दूर। प्रकृति परिवर्तनशील है और पुरुष नित्य और अपरिवर्तनशील। जब हम पुरुष और अपुरुष या प्रकृति के भेद को नहीं देख पाते तभी हमें कष्ट होता है, हम सांसारिक बन्धनों में फँसते हैं और मोक्षसिद्धि हमारे लिये केवल कल्पना की वस्तु रह जाती है। अतः विवेक ही मोक्षसिद्धि का आवश्यक साधन है। विवेक ही नित्य और अनित्य, सत्कर्म और दुष्कर्म, प्रकृति तथा पुरुष के भेद को स्पष्ट करता है और हम यह जान पाते हैं कि पुरुष सुख-दुःख, धर्म-अधर्म से बहुत परे है। वस्तुतः इसी नीर-क्षीर बुद्धि को विवेक कहते है। और यही हमारे पारलौकिक कल्याण (मोक्ष) का मुख्य साधन है।[1] जब हमें विवेक प्राप्त होता है तब हमारे सम्मुख प्रकृति की शक्ति नष्ट होने लगती है और हम पुरुष को देख पाते हैं उसके निष्कलंक रूप में। विष्णु भागवत में लिखा है

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना।
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम्॥

अर्थात् ज्ञान (विवेक), वैराग्य तथा भक्ति से युक्त व्यक्ति प्रकृति की शक्ति को नष्ट होते देखने लगता और तब पुरुष का निष्कलंकरूप भी उसके सामने आ जाता है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्ये भयाभये।
बंधं मोक्षं च यो वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

अर्थात् जो यह बतलाये कि कौन-सा काम करना उचित है, कौन-सा नहीं; कौन योग्य है, कौन अयोग्य; किसमें भय है, किसमें नहीं, कौन बन्धन का कारण है और कौन मोक्ष का, उसे ही सात्त्विकबुद्धि या विवेक कहते है।

१. "Knowledge is Virtue" —Socrates

मनु ने कहा है "मनःपूतं समाचरेत्" दूसरे शब्दों में, जो मन को अच्छा लगे उसे ही करना उचित है। यहाँ मन का अभिप्राय विवेक से है। मनु ने अन्यत्र भी कहा है-

हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत[1]

(मनुस्मृति अ० २।१)

अर्थात् जो हृदय को प्रिय हो उसे धर्म समझना चाहिये।

विवेक का जो स्थान भारतीय आचार-शास्त्र में है वही स्थान पाश्चात्य आचार-दर्शन में अन्तःकरण (Intuition) का। इस संबंध में भारतीय विवेकवादी पाश्चात्य अन्तःकरणवादियों से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। अन्तःकरणवादी भी यह मानते है कि अन्तःकरण वह शक्ति है जो उचित-अनुचित, सत्य-असत्य के भेद को बतलाती है और वह हमारे कल्याण के लिये परमावश्यक है। फिर भी यह मान लेना कि विवेकवादियों और पाश्चात्य अन्तःकरणवादियों में कोई भेद नहीं, ठीक न होगा। एक स्पष्ट विभिन्नता

१. Also see

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥ मनु

Cp. Whewell, "conscience is the reason, employed about questions of right and, and acompanied with the sentiments of approbation and condemnation which, by the nature of man, cling inextricably to his apprehension of right and wrong"—System of morality, Lect. VI.

Also compare

"Conscience, what art thou ? thou tremendous power !
Who dost inhabit us without our leave,
And art within ourselves, another self,
A master self, that loves to domineer,
And the treat the monarch frankly as the slave"

Young.

तो यह है कि जहाँ पाश्चात्य अन्तःकरणवादी (Intuitionist) यह मानते हैं कि अन्तःकरण मन या बुद्धि से भिन्न एक दूसरी शक्ति है, वहाँ विवेकवादियों का यह कथन है कि विवेक और मन वस्तुतः एक ही शक्ति है। इसकी विभिन्न क्रियाओं के कारण इसके अलग-अलग नाम हैं। जब यह चिन्तन तथा ज्ञान प्राप्त करने की क्रिया करती है तब यह मन कहलाता है और जब ज्ञान पाने के पश्चात् उचित-अनुचित, सत्य-असत्य का निर्णय देता है तब वह विवेक कहलाता है।

अब यह स्पष्ट है कि विवेक से हमें तत्वज्ञान प्राप्त होता है जो हमारी मोक्ष-प्राप्ति का मुख्यसाधन है। विना ज्ञान या विवेक के मोक्ष संभव नहीं। वेद में लिखा है

ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः

अर्थात् विना ज्ञान के मुक्ति नहीं मिलती।

शास्त्र

तत्व-ज्ञान मोक्ष के लिये आवश्यक है और ऊपर हम यह भी देख चुके हैं कि तत्वज्ञान विवेक से प्राप्त होता है। अतः विवेक को ही मोक्ष-मार्ग का प्रदर्शक माना गया है। किन्तु शंकर और मीमांसा के दार्शनिक यह मानते हैं कि विवेक देश-काल से सीमित है पर शास्त्र अपौरुषेय होने के कारण ऐसा नहीं। अतः भूत-भविष्य, परोक्ष-अपरोक्ष सभी बातों के लिये शास्त्र ही प्रामाणिक है। इससे ही हमें तत्वज्ञान प्राप्त होता है और तत्वज्ञान से मोक्ष।

अनेक संशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः॥

हितोपदेश

अर्थात् अनेक संदेह को नष्ट करने वाले, अप्रत्यक्ष को दिखलाने वाले शास्त्र ही सभी की आँखें हैं और जिसके पास यह नहीं वही अन्धा है।

पाश्चात्य नीतिशास्त्र का नियमवाद (External Law as the standard of morality) इस विचार से मिलता है।

बुद्ध, रामानुज और नैयायिक शास्त्र को अपौरुषेय नहीं मानते फिर भी उनका कथन है कि ये शास्त्र महान् तथा अनुभवी आत्माओं के संदेश होने के कारण प्रामाणिक हैं। अतः उसमें हमारी आस्था होनी चाहिये और हमें उसके ही आदेशानुसार आचरण करना उचित है।

किन्तु केवल शास्त्र को ही कर्त्तव्याकर्त्तव्य का मापदण्ड मान लेने में हमारे सामने मुख्यतः दो आपत्तियाँ हैं

(क) यदि हम यह मान लें कि धर्मशास्त्र ही हमारे नैतिक आचरण का मापदण्ड है तब तो हर जाति का नैतिक आचरण भिन्न-भिन्न होगा, क्योंकि उनके धर्मशास्त्र भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु नीतिशास्त्र के सिद्धान्त को व्यापक और सामान्य होना चाहिये अन्यथा किसी आचरण पर निरपेक्ष नैतिक नहीं हो सकता।

(ख) इसके अतिरिक्त हम परिस्थितिविशेष में यह पाते है कि भिन्न-भिन्न शास्त्रों का अलग-अलग आदेश है। 'अहिंसा परमो धर्मः' और 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' दोनों ही शास्त्र के आदेश हैं किन्तु एक दूसरे से विरुद्ध है। ऐसी स्थिति में विवेक का ही आश्रय ले कर्तव्याकर्तव्य का निर्धारण किया जा सकता है। महाभारत में लिखा है

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम् ॥

अर्थात् भिन्न-भिन्न श्रुतियों के आदेश भिन्न है और न कोई ऐसा मुनि ही है जिसका विचार प्रामाणिक समझा जाय। अतः नैतिक आचरण के संबंध में हमें विवेक का ही सहारा लेना पड़ता है। सच तो यह है कि जिसे विवेक नहीं उसके लिये शास्त्र भी कुछ काम का नहीं।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥

चाणक्य

अर्थात् जिस व्यक्ति को विवेक (प्रज्ञा) नहीं उसके लिये शास्त्र निरर्थक है, जिस प्रकार अन्धों के लिये दर्पण किसी काम का नहीं।

संयम

ऊपर हम देख चुके हैं कि विवेक मोक्ष की पहली आवश्यक शर्त है। पर मोक्षमार्ग में हमारी इन्द्रियाँ ही सदा बाधक बनती हैं। यही इन्द्रियसुख की लालसा, यही काम हमारे विवेक को ढक लेता है फिर विवेक मिले भी तो कैसे? गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥

अ० ३ श्लो० ३९

अर्थात् अग्नि के सदृश न पूर्ण होने वाले कामरूप इस नित्य वैरी से ज्ञानियों का ज्ञान ढका हुआ है। अतः यह आवश्यक है कि इन इन्द्रियों पर नियंत्रण रक्खा जाय। मनु ने उच्छृंखल घोड़ों से इन्द्रिय की तुलना की है और उन्होंने यह भी बतलाया है कि जिस प्रकार एक सफल सारथी अपने अश्वों पर नियंत्रण रखता है उसी प्रकार एक व्यक्ति को सफल होने के लिये अपनी इन्द्रियों पर अंकुश रखना चाहिए[१]। हम यहाँ चार्वाक तथा उसके सदृश अन्य सुखवादियों की चर्चा नहीं करते जो इन्द्रिय-जनित सुख को ही परम लक्ष्य मानते हैं और भोग-विलास में डूबा रहना ही जिनका एकमात्र ध्येय है। किन्तु अधिकांश भारतीय विचारक यह मानते हैं कि यदि इन्द्रियों पर नियंत्रण न

१. cp. "Thou must chain thy passions down·
Well to serve, but ill to sway,
Like the fire, they must obey.
They are good, in subject state,
To strengthen, warm, and animate;
But if once we let them reign,
They sweep with desolating train,
Till they but leave a hated name,
A ruin'd soul, and blackened fame"

Eliza Cook.

रखा जाय तो विषय में भटकने वाली ये इन्द्रियाँ हमारे मन में राग-द्वेष की भावना उत्पन्न करेंगी जो वस्तुतः दुःख के मूल कारण हैं।

किन्तु नियंत्रण का अर्थ इन्द्रियों का हनन नहीं बल्कि बुद्धि द्वारा उन्हें नियमित करना है।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ॥
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥
इन्द्रियाणि हयानाहु विषयांस्तेषु गोचरान् ॥
आत्मेंद्रियमनोयुक्तं भोक्तेयान्दुर्मनीषिणः ॥

कठ० प्रथमाध्याय ३ वल्ली।

ऊपर के श्लोक में जो रथी, सारथी और घोड़ों का दृष्टान्त दिया गया है उसका अर्थ यह है कि बुद्धि से इन्द्रियों पर नियंत्रण करना चाहिये, उसका हनन नहीं। वस्तुतः यही संयम का अभिप्राय है[1]। महर्षि पतंजलि ने यम के साथ साथ पाँच नियम बतलाये हैं उनका भी प्रयोजन यही है।

मन ही सभी इन्द्रियों का संचालक है। अतः मन पर अधिकार कर लेने से ये इन्द्रियाँ आप से आप वश में आ जाती हैं। किन्तु यह काम कुछ सहज नहीं। अर्जुन ने भगवान श्री कृष्ण से गीता में कहा है

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

[अ० ६ श्लो० ३४]

अर्थात् हे कृष्ण! मन ऐसा चञ्चल है कि उसको रोकना हवा बांधने से भी अधिक दुष्कर प्रतीत होता है। फिर भी अभ्यास और वैराग्य से उस पर अधिकार किया जा सकता है जैसा कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आदेश देते हुए कहा है

१. अतः यह संयम काण्ट के तपोवाद (Rigorism) से भिन्न है। काण्ट के तपोवाद के अनुसार नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास के लिये इन्द्रियों का पूर्ण दमन आवश्यक है। नैतिक जीवन में काम का कोई स्थान नहीं। नैतिक जीवन बौद्धिक जीवन है।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।

[अ० ६ श्लो० ३५]

योगशास्त्र में पतंजलि मुनि भी कहते हैं

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।

[योगदर्शन समाधिपाद १२]

मन तथा इन्द्रिय को वश में करने के पश्चात् मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो जाता है दूसरे शब्दों में, तब न उसमें राग रहता है न द्वेष, न उसे किसी वस्तु से सुख अनुभव होता है न दुःख । स्थितप्रज्ञ होने पर ही परम पुरुषार्थ या मोक्ष की प्राप्ति संभव है ।

निवृत्ति

मोक्ष के लिये शंकर ने दो मार्ग बतलाये हैं, निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्ग । जग और जीवन के प्रति दो दृष्टिकोण हो सकते हैं, व्यावहारिक और पारमार्थिक । दृष्टि से यह संसार सत्य प्रतीत होता है किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर यह एक भ्रम है, यह समस्त सृष्टि ही माया है ।

भरम परा तिहुँ लोक में, भरम बसा सब ठाँवं ।
कहै कबीर पुकारिकै, बसे भरम के गाँव[१] ॥

कबीर

१. cp. Shakespeare

"Life's but a walking shadow, a poor player
That struts and frets his hour upon the stage
And then is heard no more . it is a tale
Told by an idiot, full of sound and fury,
Signifying nothing"

[Macbeth Act V Scene V]

Also compare

"For in and out, above, about, below,
'Tis nothing but a Magic Shadow-show,
Play'd in a Box whose Candle is the Sun,
Round which we Phantom Figures come and go."

Rubaiyat of Omar Khayyam

निवृत्ति या संन्यासमार्गी इसी कारण संसार को मिथ्या और अनित्य मानते हैं। उनके अनुसार जबतक हम इस स्वप्नवत् संसार को त्यागते नहीं, तबतक यथार्थ का ज्ञान संभव नहीं, हम मोक्ष भी नहीं पाते। अतः सांसारिक वस्तुओं के प्रति उदासीनता और उनका पूर्ण त्याग निवृत्तिमार्ग का मूलतत्व है। सांसारिक वस्तुएँ न किसी की हैं, न किसी की हो सकती हैं। कबीर कहते हैं

कांकर चुन चुन महल बनाया लोग कहें घर मेरा रे।
ना घर मेरा ना घर तेरा चिड़िया रैन बसेरा रे॥ और
रहना नहीं देश बिराना है,
यह संसार कागद की पुरिया बूंद लगे घुल जाना है।

जब यह संसार मिथ्या है तो ज्ञानी इसके झूठे कर्म के बंधनों में क्यों फँसने लगे। वस्तुतः इनसे हटकर ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। श्री विवेकानन्द ने लिखा है, "मुक्ति को प्राप्त करने का केवल एक ही उपाय है और वह है क्षुद्र जीवन का त्याग, इस क्षुद्र जगत का त्याग, इस पृथ्वी का त्याग, सर्वस्व का त्याग।" गुरु नानक ने भी संसार के मोह और बंधनों से दूर हटकर प्रभु में चित्त लगाने का आदेश दिया है।

जगत में झूठी देखी प्रीत।
अपने ही सुखसों सब लागे, क्या दारा क्या मीत॥
मेरो मेरो सभी कहत हैं, हितसों बाँध्यो चीत।
अन्तकाल संगी नहि कोऊ, यह अचरज की रीत॥
मन मूरख अजहूँ नहिं समुझत, सिख दै हार्‍यो नीत।
'नानक' भव-जल-पार परै, जो गावे प्रभु के गीत॥

अतः हम देखते है कि निवृत्ति में संसार के समस्त बंधन और कर्म को त्यागना पड़ता है। निवृत्ति-मार्गी वैदिक कर्मों का पालन भी आवश्यक नहीं मानते क्योंकि वे भी तो कर्म ही हैं और उनसे मनुष्य बंधन में फँसता है। संसार में इतने प्रलोभन हैं कि जबतक हम समस्त कर्मों का पूर्ण त्याग नहीं करते तबतक हम मृगतृष्णा में फँसे रहेंगे। वस्तुतः सांसारिक कर्म और बंधन से दूर हटने की यही भावना निवृत्ति-मार्ग है क्योंकि निवृत्ति का अर्थ होता

है छुटकारा पाना। सांसारिकता से मुँह मोड़कर ही हम मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, ऐसा निवृत्ति-मार्गियों का कथन है। गीता में इस निवृत्ति मार्ग को सांख्ययोग कहा गया है।

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि निवृत्ति-मार्ग साधारण मनुष्य के लिये कुछ सरल नहीं। इनेगिने महात्मा और ज्ञानी ही इस मार्ग का अनुसरण कर सकते हैं। इसके लिये सांसारिक वस्तुओं के प्रति पूर्ण विराग की भावना आवश्यक है जो मिट्टी का पुतला एक मानव के लिये साधारणतः संभव नहीं। उसका स्वभाव है वस्तुओं की ओर आकृष्ट होना, उनसे दूर हटना नहीं।

फिर निवृत्ति में एक दूसरी व्यावहारिक कठिनाई भी है। मान लीजिये कि संसार के सभी व्यक्ति निवृत्ति-मार्ग का अनुसरण करने लगें; ऐसी अवस्था में क्या होगा? समाज का सारा व्यापार रुक जायेगा, संसृति की सारी प्रगति रुक जायेगी।

और तीसरी बात यह है कि कर्मों का सर्वथा त्याग भी संभव नहीं। नित्यनैमित्तिक कर्म तो होते ही रहेंगे। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

[अ० ३ श्लो० ५]

अर्थात् सर्वथा कर्मों का स्वरूप से त्याग हो ही नहीं सकता क्योंकि कोई भी पुरुष किसी काल में क्षण भर भी बिना कार्य किये नहीं रहता है। निस्संदेह सभी पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश होकर कर्म करते हैं।

प्रवृत्ति

जैसा हमने अभी देखा है सांसारिक कर्मों का सर्वथा त्याग संभव नहीं है। संभवतः इसीलिये शंकर ने प्रवृत्ति मार्ग को उत्तम बतलाया है। कर्त्तव्य कीभावना से प्रेरित होकर ही कार्य करना श्रेष्ठ है। वेद में लिखा है

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ७ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥[1]

अर्थात् मानव को आजीवन उत्तम कर्म ही करते रहना उचित है, यही उपाय है जिससे कि वह कर्म के बंधन में नहीं फँसता।

वस्तुतः यही प्रवृत्ति मार्ग है, यही कर्म मार्ग भी। इसके अनुसरण से हम मोक्ष के पात्र बनते हैं, कर्म के बंधनों में नहीं फँसते।

शंकर के कुछ टीकाकारों ने इस प्रवृत्ति मार्ग पर कुछ आपत्तियाँ उठायी हैं। उनका कथन है कि वैदिक कर्म भी कर्म ही है। कर्म करते रहने से हम में राग-द्वेष की प्रवृत्तियाँ आयेंगी ही और उनसे बंधन। यह निर्विवाद है कि ये रागात्मक प्रवृत्तियाँ सुख-दुःख का कारण बनती हैं। जबतक मानव प्रवृत्तियों का पुतला बना रहेगा तबतक उसे चैन नहीं, उसे मोक्ष भी नहीं मिल सकता। मोक्ष तो शान्तिमय अवस्था का पर्यायवाची है और ये प्रवृत्तियाँ हमें कभी शान्त नहीं रहने देतीं।

यों तो आलोचकों के इस कथन में कुछ सत्यता प्रतीत होती है। पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इन आलोचकों का मत भ्रममूलक दीख पड़ता है। गीता में इस मत का खण्डन किया गया है। भगवान कृष्ण कहते हैं कि कर्म करते हुए भी मनुष्य कर्म के बंधन से दूर रह सकता है। यही गीता का निष्काम कर्म है।

निष्काम कर्म

शंकर की तरह भगवान श्रीकृष्ण ने भी कर्म-मार्ग को निवृत्ति या कर्म-संन्यास से श्रेष्ठ बतलाया है। यद्यपि दोनों ही मोक्ष के साधन हैं।

संन्यासः कर्मयोगश्च निश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥

१. Cf. Gita

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥

[अ० ३ श्लो० ८]

अर्थात् संन्यास (निवृत्ति) और कर्म योग दोनों ही निःश्रेयस्कर (मोक्ष-दायक) हैं, पर इनमें भी कर्मयोग ही श्रेष्ठ है।

कर्म करने मात्र से ही बंधन होते हैं, यह शंका निर्मूल है। मान लीजिये किसी व्यक्ति ने कर्म से संन्यास ले लिया है पर उसके हृदय से राग-द्वेष की भावनायें दूर नहीं गयीं, तो क्या वह व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी हो सकता है? संभवतः नहीं। क्योंकि कर्म से विरत होते हुए भी प्रवृत्तियों के बंधन में वह फँसा है। अतः मनुष्य के वास्तविक बंधन कर्म नहीं, कर्म के साथ-साथ रहनेवाली राग-द्वेष की प्रवृत्तियाँ हैं। यदि इन प्रवृत्तियों को त्यागकर कर्म किया जाय तो फिर बंधन कैसा, कैसी आसक्ति। इच्छा या काम से किसी कार्य को करने पर ही हम आशा-निराशा, सुख-दुःख आदि प्रवृत्तियों के बंधन में फँसते हैं, संसार के प्रति हमारी आसक्ति बनी रहती है और इसीसे हमारा पुनर्जन्म होता है। और फिर मोक्ष के भी अधिकारी हम नहीं हो पाते। अतः फल की कामना ही हमारे सांसारिक बंधन का कारण है पर यदि कर्म के मूल में कामना या आसक्ति न हो, यदि कर्म कर्म के लिये किया जाये तो उससे बंधन नहीं होता, और उससे आसक्ति नहीं होती। इसीलिये गीता में कृष्ण ने कामना-रहित होकर कर्म करने का आदेश दिया है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन

अर्थात् कर्म में ही तेरा अधिकार है, फल में नहीं। अतः फल की कामना त्याग कर ही तू कर्म कर। इस संबंध में विवेकानन्द का कथन है "कर्म तो निरंतर करते रहो, परन्तु अपने को बंधन में मत डालो, बंधन बड़ा भयानक है। मनु के अनुसार भी फल की कामना से कार्य करना उचित नहीं। स्वर्ग आदि की कामना से भी कोई कार्य प्रेरित न हो क्योंकि यह भी एक प्रकार की कामना है और इससे हम बंधन में फँसते हैं। अतः इनका भी सर्वथा त्याग करना वांछनीय है।

गीता में इच्छा और काम से रहित कर्म करनेवाले को ही सच्चा पण्डित कहा गया है।

यस्य सर्वे समारम्भा कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
[अ० ४ श्लो० १९]

अर्थात् जिसके संपूर्ण कर्म कामना और संकल्प-रहित है, ऐसे उस ज्ञानरूप अग्निद्वारा भस्म हुए कर्मोंवाले व्यक्ति को ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं।

अतः, निष्काम कर्म का लक्ष्य आत्मशुद्धि है, किसी फल की कामना या उसके प्राप्त करने का संकल्प (Determination) नहीं।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गंत्यक्त्वात्मशुद्धये ॥
[अ० ५ श्लो० ११]

उपर्युक्त श्लोक का यह अभिप्राय है कि निष्काम कर्मयोगी ममत्वबुद्धि-रहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा भी आसक्ति को त्यागकर अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म करते है।

ऊपर के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि निष्काम कर्म के तीन आवश्यक तत्व हैं

(क) कामना और इच्छा का पूर्ण त्याग।

(ख) अहम् भाव का त्याग। "मैं यह कार्य कर रहा हूँ" ऐसा सोचने से ही हममें उस कार्य के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है और उससे बंधन। अतः इस 'अहम्' भाव का त्याग करना सर्वथा आवश्यक है। जिसमें यह कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता उसकी बुद्धि कर्म में नहीं बँधती। भगवान ने गीता में कहा है

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥

(ग) मनुष्य के सारे कर्म ईश्वर को अर्पण करने के हेतु ही किये जायँ।

ब्रह्मणाधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांमसा ॥
गीता अ० ५ श्लो० १०

अर्थात् जो व्यक्ति ब्रह्म को लक्ष्य करके कर्म करता है वह जल में कमल के सदृश कर्मों में नहीं फँसता।

गीता का निष्काम कर्म शंकर के कर्म संन्यास या निवृत्ति से अधिक व्यावहारिक और श्रेष्ठ है। कर्म का स्वरूप से त्याग करना सभी मनुष्य के लिये संभव नहीं। ऐसी अवस्था में गीता का निष्काम कर्म ही अपेक्षाकृत अधिक सुगम है।

ऊपर हमने मोक्ष के कुछ साधनों का सविस्तार विवेचन किया है। इस संबंध में बुद्ध तथा जैन धर्म के विचार का संक्षिप्त उल्लेख करना उपयुक्त होगा। बुद्ध ने जन्म-मरण के बंधन से छुटकारा पाने को मोक्ष माना है। इस मोक्ष-सिद्धि के लिये बुद्ध ने आठ साधन बतलाये हैं जिसे अष्टमार्ग कहते हैं

(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् संकल्प (३) सम्यक् वाक् (४) सम्यक् आचरण (५) सम्यक् आजीव (६) सम्यक् प्रयत्न (७) सम्यक् स्मृति (८) सम्यक् समाधि।

जैन धर्म के अनुसार भी मोक्ष के लिये सम्यक् ज्ञान, सम्यक् श्रद्धा और सम्यक् आचरण की आवश्यकता है।

सुखवाद

किसी भी वस्तु के मूल्यांकन के लिए एक मापदण्ड की आवश्यकता पड़ती है। अभी हमारे सम्मुख यह प्रश्न है कि मानव-आचरण का कौन सा सही मापदण्ड है, जिसके आधार पर किसी आचरण विशेष को उचित या अनुचित कहा जाये। इस मापदण्ड के विषय में सभी भारतीय दार्शनिक एकमत नहीं हैं।

महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है कि 'सर्वस्य सुखमीप्सितम्', अर्थात् सभी व्यक्ति सुख की इच्छा करते है। वस्तुतः बात भी ऐसी ही है। किन्तु सुख शब्द के वास्तविक अभिप्राय के सबंध में दार्शनिकों का भिन्न-भिन्न विचार है। कुछ विचारक आध्यात्मिक सुख को ही सुख मानते हैं और इसी कारण उनके दृष्टिकोण से मोक्ष ही मानवजीवन का निःश्रेयस् है, क्योंकि मोक्ष से इस प्रकार का सुख मिलता है। जो कार्य मोक्ष की प्राप्ति में सहायक होता है

वही उनकी दृष्टि में उचित है और जो इस मोक्षप्राप्ति में बाधक है वह अनुचित ।

किन्तु कुछ ऐसे भी भारतीय दार्शनिक हैं जो उपर्युक्त विचार से सहमत नहीं । उनके दृष्टिकोण से मानव का सच्चा सुख इन्द्रियजनित होता है । और यही सुख मनुष्य के नैतिक जीवन का मापदण्ड भी होना चाहिये अर्थात् जिस कार्य से अधिकाधिक इन्द्रिय सुख प्राप्त हो सके वह उचित है और जो इसकी प्राप्ति में सहायक नहीं वही अनुचित है । सुख को ही मानवजीवन का परम लक्ष्य बतलाने वाले इस सिद्धान्त को सुखवाद कहते हैं । सुखवाद तीन प्रकार का होता है :

(क) स्वार्थसुखवाद (अपने सुख को ही परम लक्ष्य मानना)

(ख) परार्थसुखवाद (दूसरे के सुख को परम लक्ष्य मानना)

(ग) उभयवादी सुखवाद (अपने तथा दूसरे दोनों के सुख को परम लक्ष्य मानना)

किन्तु भारतीय दर्शन में अन्तिम दो प्रकार के सुखवाद का कोई सुव्यवस्थित रूप हमें नहीं मिलता । अतः हम यहाँ केवल स्वार्थसुखवाद की ही सविस्तार विवेचना करेंगे ।

स्वार्थ सुखवाद

भारत में इस वाद के मानने वाले बृहस्पति, भरद्वाज तथा चार्वाक आदि थे । किन्तु इनमें भी केवल चार्वाक ही विशेष प्रमुख समझे जाते हैं । उनका कथन है कि सुखप्राप्ति ही मानवजीवन का निःश्रेयस् या परम पुरुषार्थ है । अतः प्रत्येक व्यक्ति को सदैव अपने सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहना चाहिये । यहाँ चार्वाक का संकेत ऐहिक और इन्द्रिय जनित सुख की ओर है ।

इस पार मधु है औ' तुम हो
उस पार न जाने क्या होगा

और सच तो यह है कि उस पार के जीवन को मानते ही नहीं । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और गगन इन पाँच तत्वों से निर्मित मानव-शरीर का नाश

निश्चित है। और पुनर्जन्म या आत्मा नाम की भी कोई चीज नहीं। "भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः" कहने का अभिप्राय यह है कि भस्म हुए शरीर का फिर पुनर्जन्म कैसा। जिसे हम आत्मा की संज्ञा देते हैं वह भी जड़ पदार्थ का ही एक विशेष सम्मिश्रण है। अतः उसका भी नाश अवश्यम्भावी है। इस कारण चतुराई तो इसमें है कि मिट्टी में मिलने के पूर्व ही अधिक से अधिक सुख का उपभोग कर लिया जाये।[१]

स्वर्ग और परलोक की कल्पना करना बिलकुल निरर्थक है और मोक्ष को जीवन का चरम उद्देश्य मानना कोरी मूर्खता। जो इस जीवन के निश्चित सुख को अनिश्चित स्वर्ग के सुख के लिये त्याग देते हैं वे सचमुच भारी अज्ञानी हैं। उन्हें किसी प्रकार का सुख नहीं मिलता। यही भाव हमें यहाँ भी मिलता है।

यो ध्रुवाणि परित्यज अध्रुवाणि निषेवते
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवम् नष्टमेवहि

उपर्युक्त श्लोक का तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति निश्चित वस्तु को त्याग कर अनिश्चित की कामना करता है उसकी अनिश्चित वस्तु तो नष्ट होती ही है, निश्चित भी नष्ट हो जाती है। लोक-परलोक को केवल पण्डितों का ढकोसला मान कर चार्वाक ने इस जीवन में अधिकाधिक सुखोपभोग करने का आदेश दिया है। ये तात्कालिक सुख के पक्षपाती थे। किसी प्रकार से वर्तमान में सुख मिले, आगे जो होगा सो होगा।

१. cp. "Ah make the most of what we yet may spend
Before we too into the dust descend ;
Dust into dust, and under dust, to lie,
Sans wine, sans song, sans singer and-sans End !"
Rubaiyat of Omar Khayyam

Also see Tennyson—
"Death is the end of life : ah, why
Should life all labour be ?"
[The Lotus Eaters]

अरे मरूँगा कल तो फिर क्यों
आज नहीं रस धार बहे ?[१]

[दिनकर : द्वन्द्वगीत]

वस्तुतः ऐसे विचार से ही सुरा और सुन्दरी के सिद्धान्त का उद्भव समझना चाहिये । पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले (तब तक पीते जाओ जब तक गिर न पड़ो) और अङ्गनालिङ्गनात् जन्यं सुखमेव पुमर्थता (स्त्री का आलिङ्गन ही पुरुषार्थ है) आदि कुछ कथन ऐसे ही सुखवादियों का मूल मंत्र है ।[२]

केवल सुखोपभोग का ही आदेश रहता तो एक बात थी । चार्वाक और उनके अनुयायियों का कथन है कि इस व्यक्तिगत सुख के लिये जो कुछ भी करना पड़े वह सब ठीक है । इसी सिद्धान्त को मानते हुए वे कहते हैं "यावत् जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।" आशय यह है कि मनुष्य को आजीवन सुख से जीना चाहिये । इस सुख के लिये यदि उसे कर्ज लेकर भी घी पीना पड़े तो भी कोई बात नहीं । महाभारत में वर्णित कणिक नीति इस स्वार्थवाद का पूर्ण समर्थन करती है । उसके अनुसार अपने सुख या उन्नति के लिये दूसरों को कष्ट देने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये ।

१. cp. Omar Khayyam

"Unborn To-Morrow and dead Yesterday,
Why fret about them if To-Day be sweet !"

पाश्चात्य नीतिशास्त्र में आरिस्टीपस का सिद्धान्त भी चार्वाक के सिद्धान्त के सदृश है । वे भी तात्कालिक सुख पर जोर देते हैं । उनके अनुसार भी विषय-वासना का सुख बुरा नहीं ।

२. cp Omar Khayyam

"Here with a Loaf of Bread beneath the Bough,
A Flask of Wine, a Book of Verse and Thou
Beside me singing in the Wilderness—
And Wilderness is Paradise enow."

नाच्छित्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्मदारुणम् ।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥[1]

अर्थात् विना दूसरे के हृदय को दुखाये, विना कठोर कर्म किये, तथा विना दूसरे को धोखा देकर मारे कोई व्यक्ति उत्कर्ष नहीं प्राप्त कर सकता। वाल्मीकीय रामायण के जाबालि ऋषि का सिद्धान्त भी स्वार्थवाद का ही प्रतिपादन करता है।

चार्वाक को सहानुभूति उनलोगों के साथ नहीं है जो संसार के सुख का उपभोग इसलिये नहीं करते कि उसके साथ दुःख मिले हैं। उनका (चार्वाक का) कहना है।

त्याज्यं सुखं विषय-संगम-जन्म पुंसां
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
व्रीहीन् जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी ॥

अभिप्राय यह है कि केवल दुःख के साथ सुख मिले रहने के कारण सुख का त्याग करना कोरी मूर्खता है। भला कौन ऐसा वेवकूफ व्यक्ति होगा जो भूसी से आवृत रहने के कारण अच्छे तथा सफेद चावल के कणों को त्याग दे! अतः जीवन में अधिकतम सुखोपभोग करना ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है।

यह सच है कि साधारणतः चार्वाकों ने निकृष्ट इन्द्रिय-जनित सुख को ही जीवन का सुख माना है। किन्तु वात्स्यायन ने बतलाया है कि चार्वाक के अनुयायियों के दो सम्प्रदाय थे -धूर्त चार्वाक सम्प्रदाय तथा सुशिक्षित चार्वाक सम्प्रदाय। दूसरी श्रेणी के सुखवादी परिष्कृत सुख को ही सच्चा सुख मानते हैं।

१. निशी (Nietyce) नामक जर्मन विद्वान का सिद्धान्त भी इस विचार से बहुत कुछ समता रखता है। उनके अनुसार आचार-शास्त्र में दया, करुणा, अहिंसा आदि सद्गुणों का कोई स्थान नहीं है।

परिष्कृत सुखवाद का सब से उत्कृष्ट उदाहरण स्वयं वात्स्यायन के काम सूत्र का द्वितीय अध्याय है[१]। वात्स्यायन के सुखवाद की विशेषता यह है कि वे सुख के साथ ही साथ आत्मसंयम, तथा विवेक पर भी जोर देते थे। उनका कथन है कि भूख की भाँति शरीर की अन्य स्वाभाविक प्रवृत्तियों की भी तुष्टि होनी चाहिये। पर साथ ही हमें अपनी इन्द्रियों को सुशिक्षित तथा संयमित करना उचित है।

वस्तुतः सुखवादी स्वार्थवादी ही हो सकता है, परार्थवादी नहीं। जब किसी को अपना सुख ही अभीष्ट है तो वह दूसरे के सुख को कैसे चाह सकता? और यदि वह दूसरे के सुख के लिये स्वयं कष्ट सहने को तैयार हो तो सुख उसका उद्देश्य कहाँ रहा? अतः सुखवाद में स्वार्थ से परार्थ तक जाने का कोई मार्ग नहीं।[२]

आलोचना

(१) सुखवाद एक ऐसा सिद्धान्त है जो स्वयं अपने उद्देश्य की हत्या करता है। विज्ञानभिक्षु ने ठीक ही कहा है कि सुख के पीछे दौड़ने से सुख नहीं मिलता। वस्तुतः यह एक ऐसी मृगतृष्णा है कि हम उसे पाने की जितनी ही चेष्टा करते वह हमसे उतनी ही दूर होती जाती है। सुख के पीछे दौड़ने से नहीं वरन् उससे उदासीन रहकर ही सुख प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुतः यही भाव गीता के निम्नलिखित श्लोक में व्यक्त है।

१. पाश्चात्य आचारशास्त्र में ईपीक्यूरस का सिद्धान्त भी परिष्कृत सुखवाद (Refined Hedonism) का है। उनके अनुसार भी स्थायीसुख प्राप्त करने के लिये यह अनिवार्य है कि व्यक्ति विवेकहीन होकर अपने को भोग-विलास में न खो दे। विवेक और संयम के साथ इन्द्रियसुख भोगना ही परिष्कृत सुखवाद है।

२. cp Martineau
"From each one far himself to each one far others-no road."

आपूर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्व्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।[1]
[अ० २ श्लो० ७०]

सुख की कामना से सुख नहीं, दुःख ही मिलते देखा गया है । योग-वाशिष्ठ में ठीक ही लिखा है ।

सर्व्वसंसारदुःखानां तृष्णैकादीर्घदुःखदा ।
अन्तःपरस्थामपि या योजयत्यपि सङ्कटे ॥

तात्पर्य यह है कि हमारी विपत्तियों का सब से बड़ा कारण तृष्णा ही है, जो घर में रहने वाले एक विश्वासघाती की भाँति अपने गृहवासियों को सङ्कट में डाल देती है ।

(ii) सुख निरपेक्ष नहीं । सुख और दुःख के संबंध में चार्वाकों ने जो भूसी तथा चावल के कणों की तुलना (Analogy) दी है वह ठीक नहीं । भूसी और चावल तो एक दूसरे से पृथक् किये जा सकते किन्तु सुख और दुःख के विषय में ऐसी बात नहीं । जिसे हम ऐहिकसुख कहते हैं वह वस्तुतः दुःख का दूसरा रूप है ।

"है प्रकट भोग, प्रच्छन्न रोग ।"[2] [गुप्त : यशोधरा]

१. उपर्युक्त श्लोक का श्री जे० एस० चक्रवर्ती द्वारा किया गया यह भावानुवाद अपनी स्पष्टता और सुन्दरता के लिये यहाँ उल्लेखनीय है ।

"To ever filling ocean grand
As various waters glide and stand
Full unperceived, so joys may burst
On master minds which know no thirst
By hundreds, but they do not swell,
Nor change, nor feel disturbed. These well
Can peace secure, not such as care
And run for pleasures here and there"

२. cp. Young
"A man of pleasure is a man of pains."
Also compare Thomas a kempis, "Every fleshly joy comes with a smiling.

अतः सुख निरपेक्ष रूप से प्राप्त हो भी नहीं सकता। मानव-जीवन में सुख और दुःख दोनों का अटूट संबंध है।

चिर हास अश्रुमय आनन
रे इस मानव जीवन का

[पन्त : गुंजन]

प्रसाद ने भी बहुत कुछ ऐसा ही भाव निम्नांकित पंक्तियों में व्यक्त किया है।

मानव-जीवन वेदी पर
परिणय है विरह मिलन का,
सुख-दुःख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुख और दुःख दोनों सापेक्ष हैं। ऐसी स्थिति में हम सिर्फ सुख पाने की आशा कैसे कर सकते है। अतः सुखवाद एक भ्रम है।

(iii) सुख को जीवन का लक्ष्य मानना सम्भव नहीं। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के सुखसंबंधी विचार भिन्न-भिन्न होते है। जो एक आदमी के लिये सुखदायी है वह दूसरे के लिये दुःख का कारण[1], अतः सुख को आदर्श मान लेने पर हमारे लिये आचरण का कोई सर्व्वमान्य मापदण्ड नहीं रह जाता। किन्तु नैतिक मापदण्ड को तो सर्व्वमान्य होना अनिवार्य है। अतः सुखवाद स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(iv) स्वार्थ सुखवाद मनुष्य को स्वभाव से ही स्वार्थी मान लेता है। उसके अनुसार दया, सहानुभूति आदि सद्‌गुणों का मानव-स्वभाव में कोई स्थान नही। पर वस्तुतः ऐसी बात नहीं। संसार में दूसरों के सुख के लिये अपने प्राण तक न्योछावर करने वाले व्यक्ति भी हुए हैं। मानव-स्वभाव के

१. op. Engish proverb "One man's meat is another man's poison."

गीत्मक अध्ययन पर आश्रित होने के कारण यह स्वार्थ सुखवाद वस्तुतः कोई नैतिक सिद्धान्त ही नहीं।[1]

(v) सुखवादियों का यह कथन है कि स्वार्थ सुखवाद के मूल में मनोवैज्ञानिक सुखवाद है। किन्तु ऐच्छिक-क्रिया के विश्लेषण से संगत न होने के कारण स्वयं मनोवैज्ञानिक सुखवाद भी मान्य नहीं। सुख कभी भी कार्य की प्रेरणा के रूप में काम नहीं करता। सुख तो कार्य की सिद्धि के पश्चात् मिलता है। अतः सुख ऐच्छिक क्रिया की प्रेरणा नहीं, उसका परिणाम या फल है। ऐच्छिक क्रिया की प्रेरणा तो हमारी बुद्धि है। जिससे हम किसी लक्ष्यविशेष की प्राप्ति के लिये अनुप्राणित होते है। अतः नैतिक सुखवाद मनोवैज्ञानिक सुखवाद के साथ ही अमान्य है[2]।

(vi) चार्वाक का सुखवाद उनके ज्ञान संबंधी सिद्धान्त पर आश्रित है। चार्वाक के अनुसार केवल प्रत्यक्ष (Perception) ही ज्ञान का साधन है। और इसीसे वे आत्मा को अमर नही मानते और न यह मानते हैं कि इस जीवन के बाद भी कोई जीवन है। अत ऐसे सुखवादियों के लिये सुरा और सुन्दरी की बातें करना बिल्कुल स्वाभाविक है। पर केवल प्रत्यक्ष ही ज्ञान का साधन नहीं। अतः आत्मा के विषय में चार्वाक का सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता और न हम उस भ्रममूलक सिद्धान्त पर आश्रित उनके सुखवाद को ही मान सकते हैं।

१. cp. Wundt, "Where self love is made the exclusive and sole end of human action as with the Sophist in antiquity and Mandeville in Modern English Ethics, the intention is to call in question the very existence of moral laws."

[Ethics Vol 11. P. 168]

२. cp "Pleasure finished and completes the action."

Aristotle.

Also, "For every want that stimulates the breast
Becomes a source of pleasure when redrest."

—Goldsmith.

सद्गुणों का वर्गीकरण
(Classification of virtues)

भारतीय धर्मशास्त्रों का दृष्टिकोण मुख्यतः नैतिक था और सम्भवतः यही कारण है कि विधि और निषेध, कर्तव्य और अकर्तव्य, धर्म और अधर्म की उसमें पूर्ण विवेचना की गयी है। वस्तुतः, हिन्दू-आचारशास्त्र में सदाचार का अधिक महत्व है। महर्षि पतंजलि ने जो पाँच यम बतलाये हैं वे अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह ही हैं। इनका अनुसरण कर मानव अपनी आध्यात्मिक और चारित्रिक उन्नति कर सकता है। अतः इनका पूर्ण और समीचीन ज्ञान परमावश्यक है।

अहिंसा

अहिंसा ही उपनिषद् के आचार-संबंधी विचारों का मूल तत्व है। अहिंसा शब्द का साधारण अर्थ है, हिंसा न करना। और हिंसा शब्द किसी भी जीव को नष्ट करने या कष्ट देने के भाव में व्यवहृत होता है। अतः संसार के किसी भी प्राणी को, चाहे वह कितना भी क्षुद्र क्यों न हो, कष्ट न देना ही अहिंसा का मौलिक भाव है। कष्ट केवल कर्म द्वारा ही नहीं होता, मन और वचन से भी वह संभव है। अतः कर्म, मन और वचन से हिंसा के भाव को त्यागना वास्तविक अहिंसा है। उदाहरणार्थ, एक ऐसे व्यक्ति को लीजिये जो किसी को मारता-पीटता तो नहीं पर जिसके होठों पर बराबर कटु वचन रहता है और जो दूसरों को कष्ट देने के अभिप्राय से या तो उनपर व्यंग कसता है या तीर जैसी चुभनेवाली बातें कहता है। क्या ऐसे व्यक्ति को हम सच्चे अर्थ में अहिंसा का पुजारी कह सकते हैं? अर्थात् नहीं। क्योंकि उसने अपनी बातों से ही दूसरों को कष्ट पहुँचाया है। इसीसे कहा गया है कि अहिंसा मनसा, वाचा, कर्मणा होती है। श्रुति में कहा गया है "मा हिंसीः सर्वभूतानि"[1] अर्थात् किसी प्राणी की हिंसा मत करो।

१. सर ई० आरनल्ड (Sir E. Arnold) ने लाइट आफ एशिया (Light of Asia) में बुद्ध के इस प्रेम-संदेश का वर्णन करते हुए लिखा है

यहाँ तक कि हिंसा का उत्तर हिंसा नहीं, क्षमा है। ईसामसीह और सुकरात हँसते-हँसते दूसरे की हिंसा के शिकार बन गये पर उन्होंने अपने मन में शत्रु के प्रति हिंसात्मक भावनायें नहीं आने दीं। ठीक ही कहा गया है।

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः।
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते[1] ॥

अर्थात् जो व्यक्ति उपकार करने वाले के प्रति अच्छा है उसकी अच्छाई में कौन गुण ? जो बुराई करने वाले के प्रति भी अच्छा व्यवहार करता है उसे ही सज्जन साधु कहते हैं।[2]

अतः अहिंसा में केवल हिंसा न करने की भावना ही अन्तर्हित नहीं, उसमें अन्य सद्गुणों का भी समावेश है। अहिंसा के लिये हममें क्षमा, सहानुभूति, तथा बन्धुत्व की भावना आवश्यक है। जब हम समस्त संसार को अपना बन्धु मानने लगेंगे तो फिर हिंसा किसके प्रति होगी ?

अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥
(हितोपदेश)

"... .... Have good will
To all that lives, letting unkindness die,
And greed and wrath; so that your lives be made
Like soft air passing by"

१. C. F.

आक्रुष्टस्ताडितः क्रुद्धः क्षमते यो बलीयसः।
यश्च नित्यं जितक्रोधो विद्वानुत्तमपूरुषः ॥

[Mahabharat : Vana Parva XXIX]

"Whosoever shall smite thee on thy right cheek, turn to him the other also" Jesus

Genesis के पैतालीसवें अध्याय में भी हम उदार व्यक्ति की पर्याप्त सराहना पाते हैं।

२. cp. "If you meet thire enemy's or his ass going astray, thou shalt surely bring it back to him" Book of Exodus.
"If thine enemy heenger, feed him : if he thirst, give him to drink." —Book of Proverbs.

चूँकि अहिंसा में इन धर्मों (क्षमा, सहानुभूति, बन्धुत्व, उदारता आदि) का समावेश है, इसीलिये अहिंसा को परमधर्म कहा गया है।

"अहिंसा परमो धर्मः"[१]

अहिंसा के आधारगत सिद्धान्त -वस्तुतः अहिंसा के अन्तर्गत निम्नलिखित सिद्धान्त हैं (१) सभी प्राणियों के जीने का समान अधिकार (Every body's right to live) और (२) सामाजिक कल्याण (Social well-being.)

प्रथम सिद्धान्त यह मानता है कि प्रत्येक चेतनप्राणी में एक ही जीव विद्यमान रहता है। अतः सबको जीने का समान अधिकार है। कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहता कि दूसरा उसे नष्ट कर दे या कष्ट पहुँचावे। फिर उसे क्या अधिकार कि दूसरों के प्रति वह हिंसा करे। अपनी आत्मा के सदृश दूसरों की आत्मा को समझकर ही अच्छे व्यक्ति हिंसा नहीं करते। हितोपदेश में ठीक ही लिखा है

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतानां दयां कुर्वन्ति साधवः॥

अर्थात् जिस प्रकार अपना प्राण प्रिय होता है उसी प्रकार दूसरों का प्राण भी उनको प्रिय होता है। अपनी आत्मा की तरह ही दूसरों की आत्मा को समझकर सज्जन दया करते हैं।

अहिंसा का दूसरा सिद्धान्त यह मानता है कि अहिंसा के बिना सामाजिक कल्याण संभव नहीं। जिसकी लाठी उसकी भैंस (might is right theory) वाली नीति से अराजकता ही फैल सकती है, शान्ति नहीं। अतः सामाजिक व्यवस्था के सुसंगठन के लिये भी अहिंसा आवश्यक है।

१. अहिंसा परमो धर्मः अहिंसा परमो तपः।
अहिंसा परमं सत्यं ततो धर्मः प्रवर्तते॥
(महाभारत अनुशासनपर्व IV. 25)

अहिंसा संबंधी कुछ शंकाओं का निराकरण-

अहिंसा के कुछ आलोचकों ने एक आपत्ति उठायी है और वह यह है कि अहिंसा व्यवहारिक नहीं, आदर्श वह भले ही हो। मान लें कि किसी व्यक्ति के घर में कुछ डकैत घुसकर गृहस्वामी का धन और जीवन अपहरण करना चाहते हों। तो क्या ऐसी स्थिति में गृहस्वामी अहिंसा का पालन करेगा? कदापि नहीं। अहिंसा के कुछ समीक्षक इस प्रकार की संकटमय स्थितियों को दिखलाकर अहिंसा को अव्यावहारिक बतलाना चाहते हैं। पर सच तो यह है कि ये समालोचकगण अहिंसा के वास्तविक मर्म को समझते ही नहीं। अहिंसा कायरों की चीज नहीं, वह तो शक्तिशालियों का एक अमोघ अस्त्र है। पापियों का संहार करना हिंसा नहीं। द्रौपदी के चीर हरण करने वाले कौरवों के संहार के लिये कृष्ण ने बार-बार अर्जुन को प्रेरित किया है और यह भी बतलाया है कि वे स्वयं पापियों के नाश तथा धार्मिक व्यक्तियों के उत्थान के लिये अवतार लेते हैं।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

[गीता, अध्याय ४ श्लोक ८)

मनुस्मृति में भी दुष्टों के संहार को पाप नहीं माना गया है। महात्मा गाँधी के इस कथन में कि "मैं यह नहीं कहता कि चोर, डकैत तथा भारत के आक्रमणकारियों के प्रति आप अहिंसा बरतें"[१] हम इसी विचार का समर्थन पाते हैं। उनका तो यहाँ तक कहना है कि कायरता-जनित अहिंसा अहिंसा नहीं[२]। यह सच है कि अहिंसा का जो रूप जैन-धर्म में दिया गया है, वह

१. I do not say; eschew your violence in your dealing with robbers or theives, or with nations that may invade India."

[Young India 29th May 1924]

२. "The doctrine of non-violence is not for the weak and cowardly, it is meant for the brave and the strong"

[Harijan 20th July 1937]

"If one has not the courage, I want him to cultivate the art of killing and being killed, rather than in a cowardly

केवल एक आदर्श की चीज है। परन्तु गाँधी और गीता की अहिंसा व्यावहारिक है और वह तो सर्वमान्य होनी ही चाहिये।

सत्य

सत्य के यथार्थ भाव को जानने के लिये इस शब्द की व्युत्पत्ति (Derivation) पर ध्यान देना उपयुक्त होगा। सत्य शब्द संस्कृत के 'सत्' धातु से बना है जिसका अर्थ 'है' होता है। अतः सत्य वही वस्तु है जो वास्तव में है। इस प्रकार सत्य बोलने के लिये दो बातों की आवश्यकता पड़ती है (१) वस्तुस्थिति का यथार्थ ज्ञान (२) उस ज्ञान की स्पष्ट और सच्ची अभिव्यक्ति। इनमें से किसी एक के अभाव में सत्य संभव न होगा। कल्पना कीजिये कि किसी व्यक्ति को वस्तुस्थिति का सम्यक् ज्ञान तो है पर वह उसका यथार्थ वर्णन न करके कुछ दूसरा ही वर्णन करता है। तो क्या यह व्यक्ति सत्यव्रती कहा जायेगा, स्पष्ट उत्तर है कि नहीं।

सत्य की महिमा बतलाते हुए महाभारत के अनुशासनपर्व में लिखा है

सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

अर्थात् सत्य ही धर्म, सत्य ही योग और अनन्त ब्रह्म है। सत्य सर्वोच्च यज्ञ है क्योंकि सभी चीज सत्य पर ही आश्रित है। कबीर भी सत्य को सबसे बड़ी तपस्या मानते हैं और उन्होंने उसे ब्रह्मप्राप्ति का साधन बतलाया है

साँच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदय साँच है ताके हिरदय आप॥

वस्तुतः, सत्य भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र है। भारतीय साहित्य के जितने भी उच्च चरित्र है उन सबों के जीवन में सत्य का बड़ा महत्व रहा है। दशरथ ने सत्यवचन के पालन के लिये ही अपने प्रिय पुत्र राम को

manner flee from danger ....for the latter inspite of his fight does commit mental hinsa. He flies because he has not the courage to be killed in the act of killing."
[Harijan 15th January 1938]

वन भेजा और अपनी आन गँवायी। हरिश्चन्द्र सत्य के पालन के लिये अपने राज्य को खोकर चाण्डाल के दास तक बने और उन्होंने अनेक यातनाएँ सहीं। वर्तमानकाल में महात्मा गाँधी सत्य के प्रतीक थे। उनकी सफलता की जड़ में सत्य का आग्रह (सत्याग्रह) ही था।

न केवल पारमार्थिक दृष्टिकोण से अपितु व्यावहारिक और सामाजिक दृष्टि से भी सत्य का बड़ा मूल्य है। असत्यवादियों के प्रति न तो किसी की श्रद्धा होती है और न उनपर किसी की आस्था ही। अतः सामाजिकजीवन में उन्हें बहुत क्षति उठानी पड़ती है। इसका स्पष्ट प्रमाण "भेड़िया आयो, भेड़िया आयो" वाली कहानी है।

केवल सत्य बोलना ही पर्याप्त नहीं। इस बात पर भी ध्यान रखना आवश्यक है कि सत्य प्रिय शब्दों में कहा गया हो। अतः सत्यवादी को प्रिय भाषी होना अनिवार्य है। ऐसा कोई भी सत्य कहना उचित नहीं जिससे दूसरों को कष्ट हो।[1] मनुस्मृति में भी कठोर और दुःखदायी सत्य वर्जित बतलाया गया है

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेषधर्मः सनातनः॥

(मनुस्मृति ४-१३८)

अर्थात् सत्य बोलना चाहिये, मधुर बोलना चाहिये पर अमधुर सत्य नहीं बोलना चाहिये और न मधुर असत्य ही। यही सनातनधर्म है। गीता में भी लिखा है

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्

(गीता अ० १७ श्लो० १५)

या जो वाक्य कहा जाये वह किसी में उद्वेग उत्पन्न करने वाला न हो। साथ ही सत्य, मधुर और हितकारी हो।

१. वचन से दुःख देना हिंसा है, जैसा कि हमने अहिंसा की विवेचना करते समय देखा है। अतः इससे भी बचना चाहिये।

एक बात और। कोई ऐसी बात भी कहनी उचित नहीं जिसमें सत्यता के साथ-साथ असत्यता का पुट भी हो। क्योंकि साधारण असत्य की अपेक्षा ऐसे अधूरे सत्य (Half Truths) से हानि की अधिक संभावना है।[१]

अतः सत्य और पूर्ण सत्य ही मनुष्य का उद्देश्य होना चाहिये। परन्तु इस नियम के कुछ अपवाद भी हैं। जहाँ असत्य बोलने से किसी का सच्चा लाभ होता हो वहाँ असत्य बोलना पाप नहीं, धर्म है। उदाहरण के लिये एक ऐसी अबला नारी की कल्पना कीजिये जो अपने सतीत्व की रक्षा के लिये किसी दुराचारी के चंगुल से निकल कर आपके आश्रय में आती है और आप उसे छिपाकर कहीं स्थान दे देते हैं। फिर कुछ क्षण बाद काम-पिपासा से आतुर वह दुराचारी भी आपके पास आता है और उस युवती का पता पूछता है। तो क्या ऐसी अवस्था में सत्य बोलना आपका धर्म होगा। कदापि नहीं। क्योंकि आपके सत्य बोलने से उसका सतीत्व नष्ट होने का भय है। अतः आपका धर्म तो यह है कि आप उस दुराचारी से स्पष्ट कह दें कि उस नारी का पता मुझे मालूम नहीं। यह मिथ्या अवश्य है फिर भी उपर्युक्त स्थिति में यही आपका धर्म भी है। 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा' कहकर एक बार धर्मराज युधिष्ठिर को भी द्रोण के नाश के लिये असत्य का आश्रय ग्रहण करना पड़ा था। वहाँ ऐसा करना उचित भी था क्योंकि द्रोण दुराचारी कौरवों के पक्ष में थे। भगवान श्रीकृष्ण ने महाभारत में कई जगह ऐसी बातें कही हैं जो बिलकुल सत्य नहीं फिर भी उन्हें उचित माना गया है क्योंकि वहाँ असत्य के मूल में दुराचारियों के संहार की भावना थी और थी सुख और शान्ति-स्थापन करने की सच्ची लगन।

पर ऐसे कुछ विशेष अवसरों को छोड़कर साधारण स्थिति में हमारे आचरण का ध्येय सत्य ही होना चाहिये। क्योंकि अंत में सत्य की ही जीत होती है, झूठ की नहीं। कहा भी है।

सत्यमेव जयते नानृतम्।

१. "That a lie which is half a truth is even the blackest of lies, That a lie which is all a lie may be met and fought with outright, But a lie which is part a truth is harder thing to fight."
Tennyson

ब्रह्मचर्य

"निरीह यौवन एक ऐसी सम्पत्ति है जिसे क्षणिक आवेश (जिसको हम भ्रमपूर्ण सुख की संज्ञा देते हैं) में पड़कर नष्ट करना उचित नहीं[1]।

महात्मा गाँधी

वस्तुतः इसी उद्देश्य से प्राचीन ऋषियों ने ब्रह्मचर्य की व्यवस्था की थी। उपनयन से समावर्तन-काल[2] तक ब्रह्मचर्य पालन का आदेश था। अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य की बड़ी महिमा बतलायी गयी है और उसके नियमों का सविस्तार उल्लेख किया गया है। साधारण अर्थ में ब्रह्मचर्य का भाव है। यौन-समागम (Sexual intercourse) का त्याग और वीर्य-रक्षा। किन्तु केवल यौन-सम्बन्ध से बचना ही पर्याप्त नहीं। मन से भी शुद्ध रहना आवश्यक है। यदि मन में किसी रमणी के प्रति वासना का भाव उठ गया तो वह भी व्यभिचार ही है[3]। अतः ब्रह्मचर्य का पालन "कर्मणा मनसा वाचा" होना चाहिये और इसलिये आठों प्रकार के मैथुन (नारी के ध्यान, कथा, स्पर्श, क्रीडा, दर्शन, आलिङ्गन, एकान्तवास, नारी के साथ समागम को वर्जित बतलाया गया है। अतः कामेच्छा का पूर्ण नियंत्रण ही ब्रह्मचर्य का मूल

१. "Innocent youth is a priceless possession not to be squandered away for the sake of momentary excitement miscalled pleasure".

Mahatma Gandhi.

२. विद्यार्थी-जीवन समाप्त करने के पश्चात् स्नान कर घर लौटने का धार्मिक संस्कार ही समावर्तन कहलाता है।

३. इस सम्बन्ध में यह कह देना उपयुक्त होगा कि ईसाई धर्म में भी आन्तरिक शुद्धता पर विशेष जोर दिया गया है।

"But I say unto you that whosoever looketh on woman to l st after her hath committed adultery with her already in his heart."

Lord Jesus.

भाव है।[1] महात्मा गाँधी ने वैवाहिक जीवन में भी ब्रह्मचर्य-पालन का आदेश दिया है। पर वैवाहिक ब्रह्मचर्य का अर्थ नारी समागम से पूर्ण विरक्ति नहीं। हिन्दू-धर्मशास्त्रों में पुत्रोत्पत्ति ही विवाह का लक्ष्य माना है। अतः विवाहित पुरुष या नारी को पुत्रोत्पत्ति की कामना से ही समागम करना चाहिये, कोरी कामतृप्ति के लिये नहीं। वस्तुतः यही वैवाहिक ब्रह्मचर्य है।

विस्तृत अर्थ में काम शब्द का अभिप्राय किसी भी इन्द्रिय-सुख से है। अतः एक ब्रह्मचारी को सभी इन्द्रिय-सुख से दूर रहना वांछनीय है। मनु ने ब्रह्मचर्य के कर्त्तव्यों को बतलाते हुए लिखा है।

वर्जयेन्मधु मांसं च गंधं माल्यं रसान्स्त्रियः।
शुक्तानि चैव सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्।
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथा नृतम्॥
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कंदयेत क्वचित्।
कामाद्धि स्कंदयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः॥

[मनुस्मृति २, १७७–१८०]

अर्थात् मदिरा, मांस, सुगन्ध, माला, स्वादिष्ट भोजन, नारी, आम्ल (Acids) तथा हिंसा त्यागना चाहिये। और वासना, क्रोध, लोभ, नृत्य, गान, वादन, जूआ, विवाद, व्यङ्ग तथा झूठ भी। उसे (ब्रह्मचारी को) अकेले

१. फ्रायड के युग में ब्रह्मचर्य का यह आदेश पहली दृष्टि में कुछ बेतुका मालूम पडता है। फ्रायड ने काम-प्रवृति को सहज और स्वाभाविक माना है। उसका कथन है कि कामेच्छा का पूर्ण दमन करने से अनेक प्रकार के मानसिक रोग हो सकते हैं।

पर यहाँ ध्यान देने की एक आवश्यक बात है और वह यह कि हिन्दू धर्मशास्त्र में कहीं भी कामेच्छा को बुरा नहीं माना गया है और न इस स्वाभाविक इच्छा को समूल नष्ट करने का आदेश है। ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम की व्यवस्था इस बात की पुष्टि करती है।

सोना चाहिये और वीर्य-स्खलन से बचना चाहिये। जो काम के वश में होकर वीर्य नष्ट करता है वह अपना व्रत (ब्रह्मचर्य का) तोड़ता है।

अस्तेय

रूखा सूखा खाय के, ठंढा पानी पीव।
देख बिरानी चूपड़ी मत ललचावो जीव॥

कबीर

कबीर के इस दोहे में अस्तेय का भाव बड़ी ही स्पष्ट रीति से व्यक्त है। क्योंकि दूसरों की सम्पत्ति के प्रति लोभ और उसके अपहरण की प्रवृति ही स्तेय है। जैनों ने चौर-वृति को जीवन-अपहरण के सदृश पाप माना है। उनका कथन है कि जीवन सम्पत्ति पर ही निर्भर करता है। अतः किसी के वैभव को चुराना उसका जीवन नष्ट करने के तुल्य है।

विज्ञानभिक्षु ने किसी द्रव्य पर अधिकार की भावना को ही स्तेय माना है। पर यह विचार निरसन्देह अतिरंजित है। अतः स्तेय को चौर-वृत्ति के अर्थ में ही लेना उचित है। क्योंकि दूसरों की सम्पत्ति के प्रति से लोभ हटाना ही अस्तेय का मूलभाव है। वस्तुतः लोभ में भटकनेवाले को वह सुख और सन्तोष नहीं मिलता जो एक सन्तोषी को प्राप्त है। हितोपदेश में लिखा है

सन्तोषामृततृप्तानां यत् सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥

अतः चौर-वृत्ति का सर्वथा त्याग करना चाहिये। यही अस्तेय है। किन्तु आपद्धर्म के नियमों के अनुसार कभी-कभी स्तेय शास्त्र में पाप नहीं माना गया है। दुर्भिक्ष आदि काल में चोरी करना शास्त्र के विरुद्ध नहीं। क्योंकि जीवन की रक्षा होने पर ही धर्म-पालन सम्भव है। विश्वामित्र ने कहा है

जीवितं मरणात् श्रेयो जीवान् धर्ममवाप्नुयात्।

अर्थात् मरने से जीना श्रेष्ठ है, क्योंकि जीने पर ही धर्म के अनुसार आचरण किया जा सकता है।

स्वयं विश्वामित्र[१] ने दुर्भिक्ष काल में अपने जीवन की रक्षा के लिये एक चाण्डाल के घर से कुत्ते का मांस चुराया था। परन्तु कुछ ऐसे विशेष अवसरों को छोड़कर अन्य समय चोरी करना पाप माना गया है।

सम्पत्ति एक ऐसी वस्तु है जिसकी आवश्यकता सबको होती है। अतः दूसरों को आवश्यकता-पूर्ति के इस साधन से वंचित करना ठीक नहीं। वस्तुतः यही सिद्धान्त अस्तेय के मूल में है। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह शास्त्रानुकूल विधियों से अपने लिये धनार्जन करे। पर उसे यह अधिकार नहीं कि वह दूसरों की सम्पत्ति के प्रति लोभ करे या उसका अपहरण कर ले।

आज अस्तेय का सद्गुण प्रायः लुप्त सा प्रतीत होता है। और इसका उत्तरदायित्व आज की पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था पर ही है।

अपरिग्रह

साईं इतना दीजिये जामें कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ साधु न भूखा जाय॥

कबीर

वस्तुतः इतनी ही सभी व्यक्ति की सच्ची आवश्यकता है। इससे अधिक वस्तुओं का संग्रह परिग्रह और इससे बचना ही अपरिग्रह। हिन्दू धर्मशास्त्र

१. "There were exceptions to the rules of duty permitted in times of distress. Necessity knows no law, and any form of conduct essential for self-preservation is allowed under the rules of APADDHARMA. Visvamitra found that it was necessary for him to steal dog's flesh for preserving his life, and he justified it by saying that keeping alive is better than dying. One must live before one can live according to Dharma."

[Dr. S. Radhakrishnan Religion and Society pp. 110-11]

में अपरिग्रह धर्म माना गया है।[1] भागवत में लिखा है कि प्रत्येक व्यक्ति को उतनी ही चीज पर अधिकार है जितनी से उसकी आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है। उससे अधिक लेनेवाला चोर है और दण्ड देने योग्य भी है।[2]

परिग्रह के दोष से बचना तभी सम्भव है जब व्यक्ति को सांसारिक वस्तुओं से अनासक्ति हो जाय। अतः विज्ञान भिक्षु का आदेश है कि लौकिक पदार्थ के प्रति हमें स्वामित्व का भाव त्याग देना चाहिये। विवेकानन्द ने भी कहा है, "अधिकार की भावना के साथ ही स्वार्थ आ जाता है और स्वार्थपरता से ही क्लेश उत्पन्न होता है। प्रत्येक स्वार्थात्मक कार्य तथा चिन्ता हमें किसी न किसी वस्तु के प्रति आसक्त कर देती है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि अपरिग्रह के मूल में अनासक्ति और निवृत्ति की भावना निहित है। अत अस्तेय और अपरिग्रह में ये अन्तर हैं (क) जहाँ अस्तेय में दूसरों की सम्पत्ति के प्रति लोभ न करना ही मुख्य रूप से आवश्यक है, वहाँ अपरिग्रह में सांसारिक वस्तुओं के प्रति पूर्ण अनासक्ति बतलायी गयी है।

(ख) अस्तेय का सम्बन्ध मुख्य रूप से कर्म से है और अपरिग्रह का मन से।

आज अपरिग्रह का बिलकुल अभावसा है। देश की सारी सम्पत्ति कुछ पूँजीपतियों के हाथ में संचित है। किन्तु आचार्य विनोबा भावे ने जो भूदान-यज्ञ-आन्दोलन चलाया है उसके मूल में निस्सन्देह अपरिग्रह का ही सिद्धान्त

१. लार्ड जीसू ने भी कहा है "Lay not up for yourselves treasures upon earth where moth and rust doth corrupt."
और फिर
"He that gathereth much had nothing over, and he that had gathered little had no lack."
Bible.

२. आवश्यकता से अधिक सिर्फ धन की लालसा से अर्जित सम्पत्ति को J. A. Hobson नामक एक आधुनिक लेखक ने ठीक ही "Improperty" कहा है।

है। आवश्यकता से अधिक जमीन और वैभव संचित करने का किसी को भी अधिकार नहीं, ऐसा श्री विनोबा का कथन है।[1]

---

१. "From each according to his ability to each according to his need." मार्क्सवाद का यह सिद्धान्त भी इसी ओर संकेत करता है।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१६	कस्यो हो पदिश्यने	कस्येहोपदिश्यते
१	पादटिप्पणी	piety *or* wit	piety *nor* wit
१	पादटिप्पणी	Shall *here* it	Shall *lure* it
३	२४	युध्येशे	युद्ध्येते
४	१	प्राकृतोद्यतनैर्गुणैः	प्राकृनद्यतनैर्गुणैः
७	पादटिप्पणी	श्रोत	स्रोत
११	पादटिप्पणी	Talstoy	Tolstoy
११	,,	ration	rational
१२	१९	विषय-निष्ठ	आत्म-निष्ठ
१३	१७	अशोच	अक्रोध
१६	२०	येनवालिगिता कांता तेनवालिगिता सुता	येनैवा लिंगता कांता तेना वालिंगता सुता
१८	३	कर्तव्य	कर्त्तव्य
१८	१५	वणिकपथं	वणिक्पथ
२३	पादटिप्पणी	But divorse	But diverse
२५	१७	पिछले	प्रथम
३८	८	भोक्तेयान्दुर्मनीपिण. ॥	भोक्तेयान्हुर्मनीपिण ॥
४१	१०	पारमाचिक	पारमार्थिक
४८	१०	पिवेत्	पिबेत्
४९	पादटिप्पणी	Nietyce	Nietzce
५१	पादटिप्पणी	Unpercived	Unperceieved
५२	४	जानव	मानव
५२	पादटिप्पणी	Engish	English
५३	पादटिप्पणी	finished	finishes
६२	१८	मान	गान
६२	पादटिप्पणी	काम-प्रवृति	काम-प्रवृत्ति
७३	७	प्रवृति	प्रवृत्ति

Select Bibliography

1. Astika-Vada - Ganga Prasad Upadhya.
2 Sanatan Dhaıma--Dr. Bhagwan Das.
3. Hındu View of Life Dr. S. Radhakrishnan.
4. Religion and Society Dr. S. Radhakrishnan.
5. The Heart of Hindustan Dr. S. Radha krishnan.
6. Ethics of the Hindus Prof. S. K. Moitra.
7. The Fountain Head of Religion Ganga Prasad.
8. The Good Life M. Gandhi, Edited by: J. P. Chandra.
9. Principles of Hindu Ethics M. A. Buch.
10. Manusmriti
11. Gita Rahashya--B G. Tilak.
12. Introduction to Indian Philosophy Datta & Chatterjee.
13. Manab Dharma--Hanuman Prasad Poddar.